न्यायमूर्ति आर. एन. मित्तल और डी. वी. सहगल के समक्ष

ईश्वर चंद जैन, — *याचिकाकर्ता*

बनाम

पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, चंडीगढ़ और अन्य, — *उत्तरदाता*

सिविल पुनरीक्षण सं. 2213 *सन्* 1986

दिसंबर 9, 1986

भारत का संविधान, 1950 — अनुच्छेद 235 और 311(2) — पंजाब सुपीरियर न्यायिक सेवा नियम, 1963, जैसा कि हरियाणा राज्य पर लागू है — नियम 10(3) — याचिकाकर्ता को बार से सीधी भर्ती द्वारा स्थायी रिक्तियों में से एक पर परिवीक्षा पर सेवा में नियुक्त किया गया — कई शिकायतों के आधार पर उच्च न्यायालय के एक वर्तमान न्यायाधीश द्वारा परिवीक्षाधीन व्यक्ति के खिलाफ की गई प्रारंभिक तथ्यान्वेषी जांच — जांच करने वाले न्यायाधीश ने शिकायतों को बिना आधार के पाया और आगे की जांच का सुझाव दिया और निर्देश दिया कि मामले को अदालत के समक्ष रखा जाए — पूर्ण न्यायालय रिपोर्ट के साथ-साथ अधिकारी के सेवा अभिलेख पर भी विचार कर रहा है और राज्यपाल को सिफारिश कर रहा है कि परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवाएं पर्यवसान कर दी जाएं —एक स्थायी पद के विरुद्ध परिवीक्षा पर नियुक्त अधिकारी — क्या यह कहा जा सकता है कि उसके पास पद का अधिकार है — सेवा पर्यवसान करने का आदेश कलंकात्मक नहीं है बल्कि इसके पहले प्रारंभिक तथ्यान्वेषी जांच होगी — क्या यह स्वयं ही दंड के माध्यम से कहा जा सकता है — नियम 10(3) के अनुसार सेवा पर्यवसानि का औपचारिक आदेश राज्यपाल द्वारा पारित किया जाना आवश्यक है — उक्त नियम — क्या यह उच्च न्यायालय द्वारा अधीनस्थ न्यायपालिका पर नियंत्रण को प्रभावित करता है और इसलिए संविधान के अनुच्छेद 235 का उल्लंघन करता है — निरीक्षण न्यायाधीश द्वारा परिवीक्षार्थी को संतोषजनक रिपोर्ट देना — उक्त रिपोर्ट — क्या यह निर्धारित करने में ध्यान में रखा जाने वाला एकमात्र कारक है कि क्या अधिकारी का कार्य और आचरण उसे स्थायीकरण का अधिकार देने के लिए संतोषजनक था — सेवाएं पर्यवसान करने का आदेश राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय के परामर्श से पारित किया जाएगा — उच्च न्यायालय — क्या परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी की सेवा पर्यवसान करने के लिए राज्यपाल को सिफारिश करने के अपने निर्णय के कारणों को दर्ज करना है।

अभिनिर्णित, कि जहां किसी व्यक्ति को सरकारी पद पर परिवीक्षा पर नियुक्त किया जाता है, तो उक्त सरकारी कर्मचारी को निजी नियोक्ता द्वारा परिवीक्षा पर नियोजित नौकर की तुलना में ऐसे पद पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं है। एक परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवाओं की पर्यवसानि किसी सेवक के पद पर बने रहने के किसी भी अधिकार की जब्ती के रूप में कार्य नहीं करती है, क्योंकि उसके पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है और ऐसी पर्यवसानि भारत के

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 311(2) के अनुसार पदच्युति, निष्कासन या पद में कमी नहीं हो सकती है। इस प्रकार परिवीक्षा अवधि के दौरान या उसके अंत में परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा पर्यवसान करना आमतौर पर अपने आप में एक सजा नहीं होगी। यह भी स्थापित कानून है कि आदेश का रूप निर्णायक नहीं है और क्या कोई आदेश पर्यवसानि का सरल आदेश है या सजा के माध्यम से, यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इस उद्देश्य से न्यायालय को आदेश की वास्तविक प्रकृति को देखने के लिए पर्दा उठाना चाहिए। जहां गंभीर और गंभीर कदाचार के आरोप एक आदेश की नींव हैं, हालांकि सहज रूप से पर्यवसानि के एक सरल आदेश के रूप में लिखा गया है, ऐसा आदेश दंड के माध्यम से होता है और यदि सरकारी कर्मचारी को उचित अवसर दिए बिना पारित किया जाता है तो यह भारत के संविधान, 1950 के अनुच्छेद 311(2) का उल्लंघन है। हालाँकि, केवल तथ्य यह है कि इस निर्णय पर पहुंचने से पहले की परिवीक्षाधीन व्यक्ति सेवा में बनाए रखने के लिए उपयुक्त है या नहीं या उसकी सेवाओं को उसके रोजगार के नियमों और शर्तों के अनुसार पर्यवसान कर दिया जाना चाहिए, कुछ प्रारंभिक तथ्यात्मक जांच की जाती है, लेकिन कदाचार का कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकलता है, ऐसे मामले में पर्यवसानि के आदेश को सजा के रूप में नहीं कहा जा सकता है। मलिक द्वारा प्रभावित पर्यवसानि जो दोषी नौकर के कदाचार और उसकी सेवा की पर्यवसानि की परिणामी वांछनीयता से संतुष्ट है वह पदच्युति है जबकि जहां केवल कदाचार का संदेह है तब मलिक यह कह सकता है कि इसके बारे में मैं चिंता नहीं करना चाहता हूँ और उसके अतिरिक्ताधबोध में न जाए परंतु अधिकारी को न रखने की इच्छा रखे। मालिक को जांच करना पसंद नहीं होगा और न ही संदिग्ध नौकर की सेवाओं को जारी रखने का जोखिम लेना होगा और वह नियुक्ति की शर्तों के अनुसार बिना किसी कलंक के सेवाओं को पर्यवसान कर सकता है। ऐसे मामले में यह पदच्युति नहीं है, बल्कि सरलता से पर्यवसानि है, यदि कारणों का कोई हानिकारक अभिलेख या पूर्ण सेवांत लाभ के दंडात्मक आर्थिक आउट-बैक नहीं पाया जाता है। इस स्थिति में, कदाचार प्रेरक कारक या मुक्ति का आधार नहीं है। ऐसा आदेश अप्राप्य है क्योंकि यह परिवीक्षाधीन व्यक्ति पर कोई कलंक नहीं लगाता है और वह दण्ड के माध्यम से है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(पैरा 20, 30, 31 और 34)

अभिनिर्णित, असंतोषजनक कार्य और आचरण के कारण परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी की पुष्टि की जानी है या उसकी सेवाएं पर्यवसान की जानी हैं, यह तय करने की शक्ति उच्च न्यायालय में निहित है। जब उच्च न्यायालय द्वारा ऐसे परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा पर्यवसान करने का निर्णय लिया जाता है, तो सेवा पर्यवसानि का औपचारिक आदेश राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय की सिफारिश पर पारित किया जाता है, जैसा कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 235 द्वारा प्रदान किया गया है। इस प्रकार, पंजाब सुपीरियर न्यायिक सेवा नियम, 1963 का नियम 10(3), जैसा कि हरियाणा राज्य पर लागू होता है, भारत के संविधान के अनुच्छेद 235 के दायरे से बाहर नहीं है।

(पैरा 21-A)

अभिनिर्णित, केवल यह तथ्य कि परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी का न्यायिक काम संतोषजनक था, उक्त पद को धारण करने के लिए उसकी उपयुक्तता का निर्णय करने का मानदंड नहीं है। उपयुक्तता केवल कार्य की उत्कृष्टता एवं दक्षता पर निर्भर नहीं करती। ऐसे कई कारक हैं जिन्हें परिवीक्षा पर रहने वाले व्यक्ति की पुष्टि के लिए ध्यान में रखा जाता है। किसी कर्मचारी द्वारा प्रदर्शित एक विशेष रवैया या प्रवृत्ति पुष्टिकरण के लिए उसकी उपयुक्तता या उपयुक्तता का निर्णय करते समय पुष्टि करने वाले प्राधिकारी के निर्णय को अच्छी तरह से प्रभावित कर सकती है। ऐसा हो सकता है कि एक अधिवक्ता जो परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी के रूप में सेवा में शामिल होता है वह बुद्धिमान और मेहनती रहा हो, फिर भी वह अपनी निष्पक्षता के बारे में आत्मविश्वास दिखाने में विफल हो सकता है। वह विद्वक हो सकता है फिर भी उसमें धैर्य, संयम और शिष्टाचार की कमी हो सकती है - ये कुछ ऐसे गुण हैं जो एक अच्छे न्यायाधीश के निर्माण के लिए आवश्यक हैं। वह ईमानदार हो सकता है फिर भी न्यायालय में उसके कथन और व्यवहार से वादियों और अधिवक्तों को यह आभास हो सकता है कि उन्हें न्याय से वंचित किया जा रहा है। यह तय करते समय इन सभी पहलुओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि क्या कोई व्यक्ति परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी के रूप में सेवा में बने रहने के लिए उपयुक्त है या नहीं और क्या उसे स्थायी किया जाना चाहिए या उसकी सेवाओं को पर्यवसान कर दिया जाना चाहिए। इस प्रकार, परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी के न्यायालय के निरीक्षण के परिणामस्वरूप निरीक्षण न्यायाधीश की रिपोर्ट यह निर्धारित करने का एकमात्र कारक नहीं हो सकती है कि परिवीक्षाधीन व्यक्ति का कार्य और आचरण संतोषजनक था या नहीं और उसे स्थायीकरण का अधिकार देता है या नहीं। (पैरा 37 और 38)

अभिनिर्णित, कि नियम 10(3) को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल को उच्च न्यायालय के परामर्श से आदेश पारित करना है और इस प्रकार उच्च न्यायालय एक परामर्शदाता है और केवल वही परामर्शदाता है जो परामर्श देता है और जिसे उसके पास मौजूद सभी सामग्री से परामर्श करने के लिए इसके समक्ष रखना चाहिए। यदि राज्यपाल को कतिपय कारणों से ऐसा लगता है वह उच्च न्यायालय की सिफारिश को स्वीकार करने में असमर्थ है, कारण उच्च न्यायालय को सूचित किया जाएगा ताकि वह मामले पर पुनर्विचार कर सके। इस प्रकार, उच्च न्यायालय के लिए राज्यपाल को परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी की सेवाओं को पर्यवसान करने की सिफारिश करने के अपने निर्णय के कारणों का अभिलेख करना आवश्यक नहीं है।

(पैरा 47)

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत याचिका में प्रार्थना की गई है कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में और समानता, न्याय और निष्पक्षता के हित में, यह माननीय न्यायालय कृपया प्रतिवादी संख्या 1 और 2 को 28 मार्च, 1985 के पत्र (अनुलग्नक पी. 26) के परिणामस्वरूप प्रतिवादी संख्या 1 और प्रतिवादी संख्या 2 के बीच पत्राचार का पूरा अभिलेख और उच्च न्यायालय की बैठक 21 मार्च 1985, 21 जुलाई 1985 को हुई बैठकों के एजेंडे और

कार्यवृत्त और बैठक जिसमें याचिकाकर्ता द्वारा प्रस्तुत दिनांक 28 मार्च 1985 और 16 अगस्त 1985 (अनुलग्नक पी. 28 और पी. 29) को प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा खारिज कर दिया गया, साथ ही याचिकाकर्ता की परिवीक्षा अवधि बढ़ाने के लिए राज्य सरकार द्वारा प्रतिवादी को दिए गए सुझाव को भी खारिज कर दिया गया को प्रस्तुत करने का निर्देश दें ; और इसे लागू करने के बाद, यह माननीय न्यायालय उत्प्रेषण की रिट जारी करे :-

(क) 21 मार्च, 1985 को आयोजित बैठक में प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा राज्य सरकार को याचिकाकर्ता की सेवाएं से पर्यवसान करने/सेवोन्मुक्त करने की सिफारिश करने के लिए गए निर्णयों को रद्द करने के लिए।

(ख) 21 जुलाई, 1985 को आयोजित बैठक में प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा परिवीक्षा के दूसरे वर्ष के दौरान याचिकाकर्ता के कार्य और आचरण के बारे में माननीय निरीक्षण न्यायाधीश द्वारा दी गई 'बी+' रिपोर्ट को घटाकर 'सी' रिपोर्ट के लिए गए निर्णय को रद्द करने के लिए।

(ग)28 मार्च, 1985 और 16 अगस्त, 1985 को याचिकाकर्ताओं के अभ्यावेदन को खारिज करने के लिए प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा लिए गए निर्णय को रद्द करने के लिए (अनुलग्नक पी. 28 और पी. 29)

(घ) याचिकाकर्ता की परिवीक्षा अवधि बढ़ाने के लिए राज्य सरकार द्वारा दिए गए प्रस्ताव को अस्वीकार करने के प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा लिए गए निर्णय को रद्द करने के लिए।

(ङ)प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा अपने पत्र दिनांक 28 मार्च, 1985 (अनुलग्नक पी. 26) के माध्यम से की गई सिफारिश के अनुसरण में प्रतिवादी संख्या 2 को याचिकाकर्ता की सेवाओं को पर्यवसान करने से रोकने का निर्देश देने के लिए परमादेश की रिट जारी करने के लिए, और यह घोषित करने के लिए कि याचिकाकर्ता ने सफलतापूर्वक परिवीक्षा की अवधि पूरी कर ली।

(च)कोई अन्य उचित रिट, आदेश या निर्देश जारी करने के लिए, जिसका याचिकाकर्ता मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में हकदार पाया जाता है।

(छ)रिट याचिका के साथ अनुलग्नक के रूप में संलग्न प्रमाणित प्रतियां दाखिल करने की आवश्यकता को हटाना।

(ज)उत्तरदाताओं के खिलाफ याचिकाकर्ता को इस रिट याचिका की लागत की अनुमति देने के लिए।

आगे प्रार्थना की गई है कि भारत के माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश दिनांक 14 अप्रैल, 1986 (अनुलग्नक पी. 1) के अनुसरण में, इस रिट याचिका की लंबितता में याचिकाकर्ता की सेवा में निरंतरता के संबंध में 10 सितंबर, 1985 को यथास्थिति बनाए रखने के

लिए एक विज्ञापन-अंतरिम आदेश दिया जाए, साथ ही उस दिन याचिकाकर्ता को उपलब्ध सभी लाभ भी दिए जाएं।

सिविल विविध संख्या 1519 सन् 1986

सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के तहत आवेदन जिसमें प्रार्थना की गई है कि प्रतिवादी संख्या 1 को इस माननीय न्यायालय के विचारार्थ निम्नलिखित दस्तावेज/अभिलेख प्रस्तुत करने का आदेश दिया जाए :-

1. *21 अगस्त, 1985 को हुई उच्च न्यायालय की बैठक का एजेंडा और कार्यवृत्त जिसमें याचिकाकर्ता की सेवाओं को पर्यवसान करने/छूटने का निर्णय उच्च न्यायालय द्वारा लिया गया बताया गया है।*
2. *उच्च न्यायालय का आदेश या उच्च न्यायालय की बैठक का एजेंडा और कार्यवृत्त जिसके तहत याचिकाकर्ता का 28 मार्च, 1985 का अभ्यावेदन खारिज कर दिया गया था।*
3. *27 अगस्त, 1985 को आयोजित उच्च न्यायालय की बैठक का आदेश या एजेंडा और कार्यवृत्त जिसके तहत याचिकाकर्ता का 16 अगस्त, 1985 का प्रतिनिधित्व उच्च न्यायालय द्वारा खारिज कर दिया गया था;*
4. *27 जुलाई, 1985 को आयोजित उच्च न्यायालय की बैठक का एजेंडा और कार्यवृत्त जिसमें माननीय निरीक्षण न्यायाधीश द्वारा याचिकाकर्ता के कार्य और आचरण के बारे में दी गई रिपोर्ट को 'बी+' से घटाकर 'सी' कर दिया गया;*
5. *हाई कोर्ट की बैठक का एजेंडा और मिनट्स जिसमें हाई कोर्ट ने याचिकाकर्ता की परिवीक्षा अवधि बढ़ाने के हरियाणा सरकार के प्रस्ताव को खारिज कर दिया।*
6. *28 मार्च, 1985 के पत्र की उन्नति में उच्च न्यायालय और हरियाणा सरकार के बीच पत्राचार, जहां उच्च न्यायालय ने 21 मार्च, 1985 को आयोजित उच्च न्यायालय की बैठक में लिए गए निर्णय के अनुसरण में राज्य सरकार को याचिकाकर्ता की सेवाओं से सेवोन्मुक्ति की सिफारिश की थी;*
7. *याचिकाकर्ता की ए.सी.आर. वर्ष 1983-84 और 1984-85 का अभिलेख माननीय निरीक्षण न्यायाधीश द्वारा दर्ज किया गया।*
8. *श्री के.के. डोडा के वर्ष 1970-71, 1971-72 और 1972-73 की ए.सी.आर.;*
9. *श्री एम. पी. मेहंदी रत्ता के वर्ष 1977-78, 1978-79 और 1979-80 की ए.सी.आर.।*
10. *उच्च न्यायालय की बैठक का एजेंडा और कार्यवृत्त जिसमें सर्वश्री के.के. डोडा और एम. पी. मेहंदीरत्ता की सेवाओं को पर्यवसान/सेवोन्मुक्त करने का निर्णय उच्च न्यायालय*

द्वारा लिया गया था;

11. *सर्वश्री के.के. डोडा और एम.पी. मेहंदीरत्ता की सेवाएं पर्यवसान करने/ सेवोन्मुक्त करने के संबंध में उच्च न्यायालय और हरियाणा सरकार के बीच पत्राचार।*

12. *उच्च न्यायालय की बैठक का एजेंडा और कार्यवृत्त जिसके तहत सर्वश्री के.के. डोडा और एम.पी. मेहंदीरत्ता की सेवाओं को पर्यवसान करने/सेवोन्मुक्त का निर्णय उच्च न्यायालय द्वारा वापिस लिया गया था।*

13. *उच्च न्यायालय के आदेश जिसके तहत सर्वश्री के.के. डोडा और एम. पी. मेहंदीरत्ता की परिवीक्षा अवधि बढ़ा दी गई और उच्च न्यायालय के आदेश जिसके तहत सर्वश्री के.के. डोडा और एम. पी. मेहंदीरत्ता को एच.सी.एस. (न्यायिक) में पुष्टि मिली;*

14. *श्री एच.एस. गिल कीवर्ष 1981-82, 1982-83, 1983-84 और 1984-85 की ए.सी.आर.;*

15. *श्री एच.एस. गिल को दो साल की प्रारंभिक परिवीक्षा अवधि की पर्यवसानि के बाद और तीन साल की परिवीक्षा की अधिकतम अवधि की पर्यवसानि के बाद एच.सी.एस. (न्यायिक) में बनाये रखने हेतु उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश;*

16. *श्री एच.एस. गिल के खिलाफ जांच का निर्देश देने के लिए उच्च न्यायालय का आदेश, उन आरोपों या आरोपों के बयान के साथ जिन पर श्री एच.एस. गिल के विरुद्ध जांच का आदेश दिया गया है।*

एम.एस. जैन, वरिष्ठ अधिवक्ता, के साथ आदिश गुप्ता, अधिवक्ता और एस.के.मित्तल, अधिवक्ता, याचिकाकर्ता के लिए।

कुलदीप सिंह, वरिष्ठ अधिवक्ता के साथ आर.एस. मोंगिया, अधिवक्ता, प्रतिवादी संख्या 1 के लिए।

एच.एस.हुड्डा, अतिरिक्त ए.जी. (एच), प्रतिवादी संख्या 2 के लिए ।

निर्णय

न्यायमूर्ति डी. वी. सहगल।

(1) याचिकाकर्ता को 2 मई, 1983 से दो साल की अवधि के लिए परिवीक्षा पर हरियाणा सुपीरियर न्यायिक सेवा (इसके बाद 'सेवा' कहा जाएगा) में नियुक्त किया गया था। हालांकि, इस न्यायालय की एक बैठक में 21 मार्च, 1985 को माननीय न्यायाधीशों ने निर्णय

दिया कि परिवीक्षा अवधि के दौरान उनका कार्य और आचरण संतोषजनक नहीं था और उनकी सेवाएं तुरंत पर्यवसान कर दी जानी चाहिए। परिणामस्वरूप, पत्र दिनांक 28 मार्च, 1985 अनुलग्नक पी. 26 के माध्यम से, इस आशय के आवश्यक आदेश जारी करने के लिए हरियाणा राज्य सरकार को एक सिफारिश की गई थी। याचिकाकर्ता ने भारत के सर्वोच्च न्यायालय में 1985 की रिट याचिका संख्या 11999 भरकर पत्र अनुबंध पी. 26 के माध्यम से सरकार को सूचित निर्णय/सिफारिश को चुनौती दी।

(2) श्री राम नाथ महलावत, अधिवक्ता, रेवाडी, जिला मोहिंदरगढ़ (हरियाणा) ने इस न्यायालय में 1985 का सीडब्ल्यूपी संख्या 3542 द्वारा परमादेश या अधिकार पृच्छा की रिट जारी करके हरियाणा राज्य और इस न्यायालय को याचिकाकर्ता को अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल के पद से हटाने का निर्देश देने की प्रार्थना की गई । याचिकाकर्ता, जिसे उक्त याचिका में प्रतिवादी संख्या 3 के रूप में शामिल किया गया था, ने सर्वोच्च न्यायालय में 1985 में स्थानांतरण आवेदन संख्या 268 दायर की और इसे अपनी फाइल में स्थानांतरित करने की प्रार्थना की। 14 अप्रैल, 1986 को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दोनों मामलों में आदेश अनुलग्नक पी.1 पारित किया गया था, जिसका पाठ यहां नीचे पुन: प्रस्तुत किया गया है:-

> "रिट याचिका को वापस लेने की अनुमति दी जाती है ताकि इसे उच्च न्यायालय में दायर किया जा सके। केवल इसलिए कि पूर्ण न्यायालय ने याचिकाकर्ता की सेवा पर्यवसान करने की सिफारिश करने का निर्णय लिया है, इसका मतलब यह नहीं है कि उच्च न्यायालय न्यायिक पक्ष के गुण-दोष के आधार पर मामले की जांच नहीं करेगा। हम आशा और विश्वास करते हैं कि उच्च न्यायालय और राज्य सरकार ऐसा नहीं करेंगे। याचिकाकर्ता के खिलाफ शीघ्र कार्रवाई करें और रिट याचिका, यदि आज से 15 दिनों के भीतर दायर की जाती है, तो उच्च न्यायालय के समक्ष लंबित रिट याचिका के साथ न्यायिक पक्ष में गुण-दोष के आधार पर सुनवाई की जाएगी। यह उच्च न्यायालय पर निर्भर करता है कि वह याचिकाकर्ता को उसके मामले के लंबित रहने के दौरान न्यायिक कार्य दे या नहीं।
>
> उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए स्थानांतरण याचिका खारिज की जाती है। हस्ताक्षरित आदेश फ़ाइल पर रखा गया है।"

उपरोक्त आदेश के अनुपालन में, याचिकाकर्ता द्वारा इस न्यायालय में वर्तमान रिट याचिका दायर की गई है। इस रिट याचिका के अलावा, हम इस निर्णय द्वारा 1985 के सीडब्ल्यूपी संख्या 3542 का निपटान करने का प्रस्ताव करते हैं क्योंकि इन दोनों याचिकाओं पर हमारे द्वारा एक साथ सुनवाई की गई थी।

(3) याचिकाकर्ता 1968 से एक अधिवक्ता के रूप में अभ्यास कर रहा था, जब उसे 6 नवंबर, 1982 को आयोजित एक बैठक में इस न्यायालय द्वारा सीधी भर्ती के माध्यम से जिला/

अतिरिक्त जिला और सत्र न्यायाधीश के रूप में सेवा में परिवीक्षा पर बार से सीधी भर्ती के कोटे में आवंटित स्थायी पदों में से एक के विरुद्ध नियुक्ति के लिए चुना गया था।। इस न्यायालय द्वारा की गई सिफारिश पर, उन्हें हरियाणा राज्य सरकार द्वारा कार्यालय आदेश दिनांक 14 अप्रैल, 1983 अनुबंध पी. 2 द्वारा सेवा में नियुक्त किया गया था और 27 अप्रैल 1983 को अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश, हिसार के रूप में तैनात किया गया था (इस न्यायालय के आदेश अनुलग्नक पी. 3 के अनुसार)। उन्होंने 2 मई, 1983 को इस पद का कार्यभार ग्रहण किया। उन्होंने लगभग एक वर्ष तक उक्त पद पर कार्य किया। अप्रैल, 1984 के अंत में, इस न्यायालय द्वारा उनका अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश के रूप में हिसार से नारनौल तक स्थानांतरण कर दिया गया था। उन्होंने 5 मई, 1984 को हिसार का प्रभार त्याग दिया और 7 मई, 1984 को नारनौल में कार्यभार ग्रहण किया। उन्होंने 25 मार्च, 1985 तक इस पद पर कार्य करना जारी रखा, जिस दिन न्यायिक कार्य किया गया था इस न्यायालय द्वारा 21 मार्च, 1985 को आयोजित अपनी बैठक में लिए गए निर्णय के अनुसरण में उससे वापस ले लिया गया था, जिसे 22 मार्च, 1985 के आदेश द्वारा जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल को सूचित किया गया था।

(4) जिस अवधि के दौरान याचिकाकर्ता ने हिसार और फिर नारनौल में अतिरिक्त जिला और सत्र न्यायाधीश के रूप में काम किया, उसके दौरान निम्नलिखित घटनाएं हुईं, जिनका रिट याचिका में विशिष्ट संदर्भ दिया गया है:

(1) 26 सितंबर, 1983 को जब याचिकाकर्ता एक सत्र मामले में साक्ष्य दर्ज कर रहा था, तब हिसार में तैनात रहते हुए, हिसार के एक अधिवक्ता, श्री नर सिंह बिश्नोई, उनके न्यायालय में आए, अदालत की कार्यवाही में बाधा डाली और एक बिना मुहर लगा आवेदन प्रस्तुत किया। इसका प्रभाव यह होगा कि हरियाणा पुलिस के एक सहायक उप निरीक्षक श्री ठाकर दास, जिनका बयान उक्त सत्र मामले में गवाह के रूप में दर्ज किया जा रहा था, को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, हिसार की अदालत में उक्त अधिकारी के खिलाफ एक शिकायत मामले में पेश होने के लिए निर्देशित किया जाना चाहिए। उन्होंने उक्त अधिवक्ता से कहा कि या तो सहायक पुलिस उपनिरीक्षक को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट की अदालत में उपस्थित होने का निर्देश देने का अनुरोध उक्त अदालत से आना चाहिए या अधिवक्ता को समन लाना चाहिए और पुलिस अधिकारी के द्वारा उसके बयान के बाद न्यायालय से चले जाने पर उसकी तामील करानी चाहिए। याचिकाकर्ता के अनुसार, अधिवक्ता आधे घंटे से अधिक समय तक समन लेकर नहीं लौटे। इसलिए, उन्होंने उक्त पुलिस अधिकारी की गवाही दर्ज होने के बाद उसे आरोपमुक्त कर दिया। उक्त पुलिस अधिकारी के जाने के बाद अधिवक्ता उनके न्यायालय में आये और उनके प्रति अपना गुस्सा जाहिर किया और फिर यह कहते हुए चले गये कि वह देखेंगे कि भविष्य में कोई न्यायिक अधिकारी इस तरह की हरकत करने की हिम्मत न करे. श्री बिश्नोई अधिवक्ता ने बार एसोसिएशन की एक तत्काल बैठक बुलाने के लिए एक मांग अनुलग्नक पी. 3.ए प्रस्तुत की और याचिकाकर्ता के

कामकाज के बारे में एक प्रस्ताव अनुलग्नक पी. 4, 27 सितंबर, 1983 को बार एसोसिएशन, हिसार के कुछ सदस्यों द्वारा पारित किया गया था। उन्होंने स्वयं इस घटना की सूचना इस न्यायालय को दी, अपने पत्र दिनांक 8 अक्टूबर, 1983 अनुबंध पी. 5 के माध्यम से घटना का विवरण देते हुए संलग्नक पी. 3/3 और पी. 4 की प्रतियां संलग्न कीं। उन्होंने सलाह माँगते हुए उच्च न्यायालय से पूछा कि क्या इन परिस्थितियों में पुलिस अधिकारी जो उसकी अदालत में गवाह के रूप में पेश हो रहा था, उसे संबंधित अदालत से अनुरोध या सम्मन के बिना किसी अन्य अदालत में पेश होने के लिए निर्देशित किया जा सकता है, और क्या गवाह हो सकता है एक पक्ष के अधिवक्ता के अनुरोध पर उसे तब तक हिरासत में रखा गया जब तक कि वह उक्त अदालत के समक्ष गवाह की उपस्थिति के लिए समन नहीं ले आया। उन्होंने यह सलाह भी मांगी कि क्या अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश के रूप में किसी व्यक्ति पर सम्मन की तामील कराना उनका कर्तव्य है। बार एसोसिएशन के अध्यक्ष ने प्रस्ताव अनुलग्नक पी. 4 की एक प्रति इस न्यायालय के साथ-साथ जिला एवं सत्र न्यायाधीश, हिसार को भी भेजी। याचिकाकर्ता का कहना है कि उसे अपने पत्र अनुलग्नक पी. 5 का कोई जवाब नहीं मिला और उसके खिलाफ की गई शिकायत इस न्यायालय द्वारा दायर की गई थी क्योंकि उसे कोई गलती नहीं मिली थी।

(2) 10 सितंबर, 1983 को हिसार में अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश के रूप में तैनात रहते हुए, उन्होंने सत्र मामले '*राज्य बनाम राम निवास*' का निर्णय किया था, जिसमें आरोपी पर भारतीय दंड संहिता की धारा 363 और 366 के तहत अतिरिक्ताध का आरोप लगाया गया था। उन्होंने आरोपी व्यक्ति को आईपीसी की धारा 366 के तहत अतिरिक्ताध से बरी कर दिया और उसे एक वर्ष की अवधि के लिए परिवीक्षा पर रिहा कर दिया, - अपने फैसले दिनांक 10 सितंबर, 1983 अनुबंध पी. 6 द्वारा। आरोपी राम निवास, जिसे दोषी ठहराया गया था, ने आपराधिक मामला दायर किया इस न्यायालय में 1983 की अपील संख्या 521-एसबी, जिसका निर्णय न्यायमूर्ति ए. एस. बैंस, द्वारा 5 अप्रैल, 1984 को किया गया था। अपील स्वीकार कर ली गई और विद्वक न्यायाधीश के इस निष्कर्ष पर पहुंचने पर कि अभियोजन विफल रहा, आरोपी व्यक्ति को बरी कर दिया गया। उचित संदेह से परे उसके खिलाफ मामला साबित करें। हालाँकि, न्यायमूर्ति ए. एस. बैंस ने उक्त अपील में अपने फैसले के अंतिम पैराग्राफ (अनुलग्नक पी. 7) में याचिकाकर्ता के खिलाफ निम्नलिखित प्रतिकूल टिप्पणियाँ कीं: -

"मैं यह टिप्पणी करने के लिए बाध्य हूं कि ट्रायल न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय बेहद खराब है और अभिलेख पर मौजूद सबूतों पर आधारित नहीं है। ऐसा लगता है कि ट्रायल न्यायालय ने अपीलकर्ता को गलत तरीके से दोषी ठहराया है।"

हरियाणा राज्य ने फैसले के अनुबंध पी. 7 के खिलाफ भारत के सर्वोच्च न्यायालय में विशेष अनुमति याचिका (आपराधिक) संख्या 2072/1974 दायर की है, जो अभी भी लंबित है। याचिकाकर्ता के प्रतिकूल उपरोक्त टिप्पणियाँ उसे इस न्यायालय द्वारा दिनांक 25 अप्रैल,

1984 के पत्र के माध्यम से बताई गई थीं, जो उसे 27 अप्रैल, 1984 को प्राप्त हुई थी। उसने इस न्यायालय से उपरोक्त निर्णय की एक प्रति की आपूर्ति के लिए अनुरोध किया था ताकि वह सक्षम हो सके। प्रतिकूल टिप्पणियों के विरुद्ध अभ्यावेदन प्रस्तुत करना। इसकी प्रमाणित प्रति उन्हें जुलाई, 1984 में प्रदान की गई और उन्होंने उपरोक्त प्रतिकूल टिप्पणियों को हटाने के लिए 30 अगस्त, 1984 को इस न्यायालय में अपना अभ्यावेदन अनुबंध पी. 8 प्रस्तुत किया। उन्हें अपने प्रतिनिधित्व के भाग्य के बारे में उच्च न्यायालय से कोई सूचना नहीं मिली। हालाँकि, सर्वोच्च न्यायालय में उनकी याचिका पर उच्च न्यायालय द्वारा दायर जवाब से उन्हें पता चला कि उनके उपरोक्त अभ्यावेदन पर प्रशासन की ओर से कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती है। उन्होंने मामले को न्यायिक पक्ष में उचित पीठ के समक्ष रखने के लिए 21 जनवरी, 1986 को एक और अभ्यावेदन संलग्नक पी. 8.ए प्रस्तुत किया, लेकिन ऐसा नहीं किया गया। इसके बाद उन्होंने उपरोक्त प्रतिकूल टिप्पणियों को हटाने के लिए आपराधिक प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के तहत इस न्यायालय में एक याचिका दायर की ।

(3) नारनौल में तैनात रहते हुए, याचिकाकर्ता ने जुलाई 1984 में एक सत्र मामले "*राज्य बनाम देवला*" को निपटाया, जो कि भारतीय दंड संहिता की धारा 332, 333, 353, 186 और 323 के तहत रेवाड़ी के एक अधिवक्ता श्री राम नाथ महलावत द्वारा की गई शिकायत पर दर्ज किया गया था। याचिकाकर्ता के अनुसार, श्री महलावत 'जन हृदय' नाम से एक साप्ताहिक समाचार पत्र प्रकाशित करते हैं और उन्होंने 'जनता कल्याण समिति' नामक एक सामाजिक संगठन भी बनाया है। वह उक्त जनता कल्याण समिति का परियोजना अधिकारी होने के नाते खुद को लोक सेवक होने का दावा करता है। उक्त सत्र मामले में साक्ष्य दर्ज करने के बाद, 20 जुलाई, 1984 को उनके द्वारा दलीलें सुनी गईं और मामले को 25 जुलाई, 1984 को आदेशों की घोषणा के लिए तय किया गया। उन्होंने सभी आरोपी व्यक्तियों को दोषी ठहराने का आदेश अनुलग्नक पी. 12 सुनाया। भारतीय दंड संहिता की धारा 325/324/34 के तहत आरोपी एक रणजीत सिंह को छोड़कर ।उन्होंने माना कि श्री महलावत एक लोक सेवक नहीं थे और उन्हें लगी चोटें उन्हें सार्वजनिक कर्तव्य निभाने से नहीं रोकती थीं, भले ही वह एक लोक सेवक थे। इस प्रकार, उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि आईपीसी की धारा 232/353 के तहत अतिरिक्ताध नहीं बनता है। उन्होंने झूठे साक्ष्य गढ़ने के लिए आरोपी रंजीत और अभियोजन पक्ष के एक गवाह के खिलाफ मुकदमा चलाने का निर्देश दिया। चूंकि वह स्टेशन अवकाश पर जा रहे थे, इसलिए उन्होंने सजा के सवाल पर साक्ष्य और बहस के लिए मामले को 30 जुलाई, 1984 तक के लिए स्थगित कर दिया। 30 जुलाई, 1984 को, अभियुक्त के विद्वक अधिवक्ता के अनुरोध पर, मामले को 10 अगस्त, 1984 तक के लिए स्थगित कर दिया गया क्योंकि पार्टियों के अधिवक्ता के लिए पहले की कोई तारीख उपयुक्त नहीं थी, इस तथ्य के बावजूद कि वह मामले को 4 अगस्त,

1984 या 9 अगस्त, 1984 तक स्थगित करना चाहते थे। उन्होंने 10 अगस्त, 1984 को सज़ा के प्रश्न पर दलीलें सुनीं और 13 अगस्त, 1984, अनुलग्नक पी. 12.ए निर्णय सुनाया, क्योंकि 11 और 12 अगस्त, 1984 को छुट्टियाँ थीं। सभी आरोपी पहले अतिरिक्ताधी थे और उनमें से एक की उम्र 60 वर्ष थी और उनके द्वारा शिकायतकर्ता श्री महलावत को मुक्के से गंभीर चोट पहुंचाई गई थी, जिसके परिणामस्वरूप उनकी नाक की हड्डी टूट गई थी। याचिकाकर्ता ने सभी आरोपी व्यक्तियों को अच्छे आचरण के लिए डेढ़ साल की अवधि के लिए परिवीक्षा पर रिहा करने का आदेश दिया। इस अवधि में से एक वर्ष तक उन्हें परिवीक्षा अधिकारी की देखरेख में रहना था। याचिकाकर्ता का आरोप है कि श्री महलावत अपने उपरोक्त फैसले में उनके द्वारा दर्ज किए गए निष्कर्षों से नाराज हो गए और उनके खिलाफ झूठी शिकायतें करने में लगे रहे। 11 सितंबर, 1984 को एक शिकायत संलग्नक पी. 13 श्री महलावत द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश को भेजी गई थी, जिसकी एक प्रति इस न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों के साथ-साथ रजिस्ट्रार को भी भेजी गई थी, जिसमें उन्होंने आरोप लगाया था कि याचिकाकर्ता को रुपये मिले थे। आरोपी व्यक्तियों से उनके खिलाफ नरम रुख अपनाने के लिए 25000/- रुपये वसूले गए और मामले को 25 जुलाई, 1984 के बाद विभिन्न तारीखों के लिए स्थगित कर दिया गया और उक्त राशि का भुगतान उन्हें किश्तों में किया गया था। उन्होंने शिकायत में आगे आरोप लगाया कि उन्हें शिकायत की तारीख तक याचिकाकर्ता के फैसले की प्रमाणित प्रति नहीं मिली थी, हालांकि उन्होंने 14 अगस्त, 1984 को इसके लिए आवेदन किया था। श्री महलावत ने 1 अक्टूबर, 1984 उपरोक्त मामले से संबंधित इस न्यायालय में याचिकाकर्ता के खिलाफ को एक और शिकायत की।

(4) 1 अक्टूबर, अनुलग्नक पी. 17 की अज्ञात शिकायत इस न्यायालय में याचिकाकर्ता के अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल के रूप में लंबित सिविल अपील (शेर सिंह बनाम मोहिंदर सिंह) से संबंधित प्राप्त हुई थी। इस शिकायत में, अन्य बातों के अलावा, इस आशय का आरोप शामिल था कि उक्त अपील श्री एसके सांघी अधिवक्ता द्वारा दायर की गई थी, लेकिन याचिकाकर्ता की मिलीभगत से, और उनके कहने पर, रोहतक के अधिवक्ता श्री महाबीर पार्षद जैन को बदल दिया गया था। जो, शिकायतकर्ता के अनुसार, कुछ न्यायिक अधिकारियों को अतिरिक्त विचार पारित करने के लिए मध्यस्थ के रूप में जाना जाता है। उनके अनुसार, यह शिकायत स्पष्ट रूप से एचआर द्वारा इंजीनियर की गई थी। महलावत अधिवक्ता ने नारनौल के एक अधिवक्ता श्री एमबी सांघी के साथ मिलीभगत की, जो उस सिविल अपील में अपीलकर्ताओं का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। याचिकाकर्ता का आरोप है कि श्री एमबी सांघी अधिवक्ता को अदालतों में माहौल बनाकर और उनके खिलाफ तुच्छ शिकायतें भेजकर पीठासीन अधिकारियों को परेशान करने की आदत है। वह अपने मामलों का निर्णय अपने पक्ष में कराने के प्रयास में किसी भी हद तक चला जाता है। उक्त सिविल अपील 1977 से अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल की अदालत

में लंबित है और अपीलकर्ताओं ने रोहतक के श्री महाबीर पार्षद जैन अधिवक्ता को अपने अधिवक्ता के रूप में नियुक्त किया था। अपीलकर्ताओं के स्थानीय अधिवक्ता श्री एसके सांघी अधिवक्ता द्वारा याचिकाकर्ता के पूर्ववर्ती से इस आधार पर अपील में स्थगन की मांग की जा रही थी कि रोहतक के अधिवक्ता श्री महाबीर पार्षद जैन को अपील पर बहस करनी थी। उक्त अपील में कार्यवाही का सारांश, ताकि इस तथ्य को सामने लाया जा सके, याचिका के साथ अनुबंध पी. 18 के रूप में संलग्न किया गया है। उन्होंने 7 मई, 1984 को नारनौल में कार्यभार संभाला था और केवल उपरोक्त सिविल अपील को निपटाया था। 24 मई, 1984 से 11 अक्टूबर, 1984 तक। उन्होंने 7 मई, 1984 और 8 सितंबर, 1984 को अपील में दलीलें सुनीं और मामले को 15 सितंबर, 1984 तक के लिए स्थगित कर दिया था क्योंकि उन्हें बताया गया था कि पार्टियों के बीच समझौते के लिए एक कदम उठाया गया था। हालाँकि, 15 सितंबर, 1984 को कोई समझौता नहीं होने के कारण उन्होंने मामले की दलीलों की दोबारा सुनवाई के लिए 28 सितंबर, 1984 की तारीख तय की। उस तारीख को अपीलकर्ताओं के अधिवक्ता की ओर से अनुरोध किया गया था, जिसके आधार पर मामले को 16 अक्टूबर, 1984 तक के लिए स्थगित कर दिया गया था। याचिकाकर्ता का तर्क है कि अनाम शिकायत में यह आरोप कि श्री महाबीर प्रसाद जैन अधिवक्ता ने अपीलकर्ताओं के लिए स्थानीय अधिवक्ता की मिलीभगत से उनकी जगह ले ली, कार्यवाही के सारांश अनुलग्नक पी. 18 से गलत है।

(5) इस न्यायालय को श्री एम. बी. सांघी अधिवक्ता, नारनौल से दिनांक 11 अक्टूबर, 1984 अनुलग्नक पी. 19 की एक और शिकायत प्राप्त हुई, जो एच.यू.एफ. मोहन लाल बनाम होंडा राम नामक सिविल अपील से संबंधित है। याचिकाकर्ता के अनुसार, इस अपील में दलीलें 20 सितंबर, 1984 को सुनी गईं। यह एक अपील थी जो ट्रायल न्यायालय के एक डिक्री से उत्पन्न हुई थी, जिसमें वादी के दावे लगभग रुपये 2,500 के ख़िलाफ़ रुपये 300/- की डिक्री पास हो चुकी थी। डिक्री से असंतुष्ट होने के कारण वादी द्वारा अपील दायर की गई थी। दलीलें सुनने के बाद, उन्होंने निर्णय सुनाने के लिए अपील को 22 सितंबर, 1984 तक के लिए स्थगित कर दिया। हालाँकि, उस तारीख को, पार्टियों ने समझौता करने की इच्छा व्यक्त की। ऐसे में फैसले की घोषणा करीब एक पखवाड़े के लिए टाल दी गई। हालाँकि, किसी भी पक्ष ने समझौते के बारे में रिपोर्ट नहीं की और उन्होंने 10 अक्टूबर 1984 को आंशिक रूप से अपील की अनुमति देते हुए निर्णय सुनाया और वादी-अपीलकर्ता के पक्ष में रुपये 1768.18 पैसे के साथ सहमत दर पर भविष्य का ब्याज के लिए एक डिक्री पारित की गई। श्री सांघी की शिकायत में एकमात्र शिकायत यह थी कि याचिकाकर्ता ने 22 सितंबर, 1984 को निर्णय की घोषणा नहीं की थी और इसे बाद में घोषित किया गया था। अपील को लागत और 18 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से अतिरिक्त ब्याज के साथ अनुमति दी गई थी, जो शिकायतकर्ता के अनुसार, ब्याज की एक उदाहरण

दर थी। इस न्यायालय ने इस शिकायत पर याचिकाकर्ता की टिप्पणियों को दिनांक 14 दिसंबर, 1984 के अनुबंध पी. 20 के माध्यम से मांगा, जिसे इस न्यायालय के रजिस्ट्रार ने जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल को संबोधित किया था। उनसे उस कानून या नियम को बताने की आवश्यकता थी जिसके तहत उन्होंने उपरोक्त अपील में इस आधार पर निर्णय सुरक्षित रखा था कि पार्टियों ने समझौते के लिए अपनी इच्छा दिखाई थी। इस न्यायालय ने शिकायत पर याचिकाकर्ता की टिप्पणी मांगने से पहले इस अपील की फाइल भी मंगवाई। उन्होंने दिनांक 2 फरवरी, 1985 के पत्र अनुलग्नक पी. 20.ए के माध्यम से अपनी टिप्पणियाँ प्रस्तुत कीं, जिसमें उन्होंने बताया कि उनका वास्तविक विश्वास था कि आदेश 20, सिविल प्रक्रिया संहिता के प्रावधान, एक न्यायालय को एक उचित मामले में निर्णय सुरक्षित रखने में सक्षम बनाते हैं और उन्होंने तदनुसार उपरोक्त अपील में निर्णय सुरक्षित रख लिया क्योंकि पार्टियों ने 22 सितंबर, 1984 को समझौता करने की इच्छा व्यक्त की थी और याचिकाकर्ता को समझौते के बारे में सूचित करने के लिए दो सप्ताह का समय मांगा था। चूँकि वे ऐसा करने में असफल रहे, उन्होंने 10 अक्टूबर, 1984 को निर्णय सुनाया।

(6) एक और शिकायत दिनांक 14 जनवरी, 1985 अनुलग्नक पी. 21 एक खेम चंद द्वारा याचिकाकर्ता के खिलाफ खेम चंद बनाम मूर्ति मंदिर जगन नाथ नामक किराया अपील के संबंध में की गई थी। किराया नियंत्रक ने मूर्ति, मंदिर जगन नाथ द्वारा दायर इस उद्देश्य के लिए एक आवेदन पर खेम चंद को किरायेदार के रूप में बेदखल करने का आदेश दिया था। अपने बेदखली आदेश के खिलाफ खेम चंद द्वारा दायर अपील को याचिकाकर्ता ने 24 नवंबर, 1984 के आदेश के तहत खारिज कर दिया था और उन्होंने अपीलकर्ता को परिसर खाली करने के लिए तीन महीने का समय दिया था। उनके अनुसार, शिकायतकर्ता ने अपनी शिकायत में गलत कहा कि उसे परिसर खाली करने के लिए दो महीने का समय दिया गया था, उसके आदेश से इस न्यायालय में पुनरीक्षण याचिका दायर करने की सीमा पर्यवसान होने वाली थी और उसे इसकी प्रति उपलब्ध नहीं कराई गई थी। वह आदेश जिससे याचिकाकर्ता ने अपील खारिज कर दी। याचिकाकर्ता ने बताया कि नकल एजेंसी जिला एवं सत्र न्यायाधीश के नियंत्रण में है और श्री खेम चंद ने आदेश की प्रमाणित प्रति की आपूर्ति में देरी के लिए जिला एवं सत्र न्यायाधीश से कोई शिकायत नहीं की है। शिकायतकर्ता रेवाडी का रहने वाला है। याचिकाकर्ता के अनुसार, यह शिकायत श्री राम नाथ महलावत अधिवक्ता द्वारा तैयार की गई प्रतीत होती है, जो कि रेवाडी में ही रहते हैं और याचिकाकर्ता के खिलाफ शिकायतों को बढ़ाने में रुचि रखते थे ताकि उनके खिलाफ उच्च न्यायालय के मन में पूर्वाग्रह पैदा हो सके।

(5) याचिकाकर्ता के अनुसार क्रम संख्या 3 में उल्लिखित श्री आर. एन. महलावत की शिकायतों के संबंध में, मामला सुरिंदर सिंह को तथ्यान्वेषी जांच के लिए सौंपा गया था। उनका

कहना है कि आम तौर पर यह अदालत उन शिकायतों पर विचार नहीं करती है जिनके साथ हलफनामा नहीं होता है। हालाँकि, श्री महलावत की शिकायतों पर विचार किया गया। उच्च न्यायालय का एक अधिकारी 18 सितंबर 1984 की सुबह सेशन केस (**राज्य बनाम देवला और अन्य**) की फाइल लेने के लिए नारनौल गया और उसे चंडीगढ़ ले आया। उनके न्यायालय में रखे गए आपराधिक मामलों से संबंधित पेशी रजिस्टर और अन्य रजिस्टरों को भी इस न्यायालय ने एक अन्य विशेष दूत के माध्यम से तलब किया था जो 25 सितंबर, 1984 को नारनौल गया था और उस तारीख को उसे चंडीगढ़ लाया था, न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह ने भेजा था नारनौल के याचिकाकर्ता से 30 सितंबर, 1984 को विद्वक न्यायाधीश द्वारा 25 जुलाई, 1984 को अभियुक्त की सजा का आदेश दर्ज होने के बाद उक्त मामले में उनके द्वारा तय की गई तारीखों की संख्या के संबंध में कुछ प्रश्न पूछे गए थे। उन्होंने उनसे पूछे गए सभी सवालों के जवाब दिए जो एक बयान अनुलग्नक पी. 14 के रूप में दर्ज किए गए हैं। इस न्यायालय में प्राप्त किसी अन्य शिकायत के संबंध में 30 सितंबर, 1984 के बाद न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह द्वारा उनसे पूछताछ नहीं की गई थी। उनके खिलाफ न ही वह किसी जांच से जुड़े थे, जो न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह ने 30 सितंबर, 1984 के बाद की होगी। जैसा कि अनुबंध पी. 14 से स्पष्ट है, श्री महलावत के आरोप के संबंध में उनसे कोई सवाल नहीं किया गया था। शिकायतकर्ता ने रुपये की अवैध परितोषण प्राप्त करने के संबंध में। 25 जुलाई, 1984 से 13 अगस्त, 1984 की अवधि के दौरान आरोपी व्यक्तियों को सजा सुनाते समय नरम रुख अपनाने के लिए उनसे 25,000 रु. का जुर्माना वसूला गया। न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह को जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल के माध्यम से श्री परशोतम दास गुप्ता, सहायक जिला अटॉर्नी और सार्वजनिक अभियोजक, नारनौल का बयान भी मिला था, जिन्होंने उनके न्यायालय में सत्र मामला (राज्य बनाम देवला और अन्य) चलाया था, जो अनुलग्नक पी. 15 है। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने मामले को 30 जुलाई, 1984 को 10 अगस्त, 1984 तक के लिए स्थगित कर दिया था, हालांकि उन्होंने मामले को पहले 4 अगस्त, 1984 और फिर 9 अगस्त, 1984 के लिए तय करने का प्रस्ताव दिया था, लेकिन कोई नहीं इनमें से दो तारीखें पक्षकारों के लिए, अधिवक्ता के लिए उपयुक्त थीं। न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह ने दिनांक 19/21 फरवरी, 1985 के अनुबंध पी. 16 पर एक रिपोर्ट बनाई जिसमें याचिकाकर्ता द्वारा नारनौल में अपनी पोस्टिंग के दौरान निपटाए गए और निर्णय लिए गए चार मामलों का संदर्भ दिया गया था और जिसका उल्लेख क्रमांक (3), (4), (5) और (6) में किया गया है। उनका कहना है कि जैसा कि अनुबंध पी. 16 से स्पष्ट है, न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह ने अपने खिलाफ की गई शिकायतों की केवल प्रारंभिक जांच की थी। यह रिपोर्ट इस आशय की है कि याचिकाकर्ता के खिलाफ शिकायत में आगे की जांच की आवश्यकता है। रिपोर्ट अनुलग्नक पी. 16 का अंतिम पैराग्राफ निम्नलिखित प्रभाव वाला है:-

> "जैसा कि ऊपर अवधारित है, मामलों की स्थिति में, मामले को न्यायाधीशों की बैठक में रखा जा सकता है ताकि यह निर्णय लिया जा सके कि इस संबंध में क्या कार्रवाई की जानी चाहिए, खासकर जब न्यायिक अधिकारी, यानी श्री आईसी जैन, ने अभी तक पूरी नहीं की

है परिवीक्षा की अवधि।"

उपरोक्त रिपोर्ट पर 21 मार्च 1985 को आयोजित न्यायाधीशों की बैठक में विचार किया गया। गोपनीय एजेंडे की सूचना में मद संख्या 4 शामिल है-

"रे: श्री आईसी जैन, अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल- माननीय श्री न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह की 21 फरवरी 1985 की रिपोर्ट पर विचार।"

बैठक में न्यायाधीश सुरिंदर सिंह की रिपोर्ट अनुलग्नक पी. 16 को रखते हुए, एजेंडे के इस सूची के संबंध में रजिस्ट्रार द्वारा तैयार किए गए बैठक नोट में अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित अंश शामिल हैं: -

"उपरोक्त चार शिकायतों के संबंध में माननीय श्री न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह ने 21 फरवरी, 1985 को एक विस्तृत रिपोर्ट बनाई है (अनुलग्नक 'जेड') उनके आधिपत्य ने इस सुझाव के साथ रिपोर्ट का समापन किया है कि मामले को बैठक में रखा जा सकता है माननीय न्यायाधीशों को यह तय करने के लिए कि इस संबंध में क्या कार्रवाई की जानी चाहिए, खासकर जब न्यायिक अधिकारी, यानी, श्री आईसी जैन, ने अभी तक परिवीक्षा की अवधि पूरी नहीं की है। यह मामला अब माननीय कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश के आदेश के अनुसार माननीय न्यायाधीशों की बैठक में विचार के लिए रखा गया है।"

21 मार्च 1985 को आयोजित न्यायाधीशों की बैठक की गोपनीय कार्यवाही से प्रासंगिक उद्धरण निम्नलिखित प्रभाव से है: -

"— — — — —

(4) श्री आई.सी.जैन, अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश के प्रकरण पर विचार किया गया। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि उनकी दो साल की परिवीक्षा अवधि 2 मई, 1985 को पर्यवसान होने वाली है, अतिरिक्त जिला और सत्र न्यायाधीश के रूप में उनके प्रदर्शन की समीक्षा की गई। आगे विचार करने पर यह निर्णय लिया गया कि इस अवधि के दौरान उनका कार्य और आचरण संतोषजनक नहीं था और उनकी सेवाएं तत्काल पर्यवसान किये जाने योग्य थीं। फलस्वरूप इस संबंध में आवश्यक आदेश जारी करने हेतु राज्य सरकार को अनुशंसा की जाये। आगे यह निर्णय लिया गया है कि श्री आईसी जैन की अदालत से न्यायिक कार्य तुरंत वापस ले लिया जाए।"

यहां यह ध्यान दिया जा सकता है कि उपरोक्त तीन दस्तावेज, यानी गोपनीय एजेंडे की सूचना, रजिस्ट्रार द्वारा तैयार किया गया बैठक नोट और साथ ही गोपनीय कार्यवाही से उद्धरण, सीएम में हमारे निर्देश पर प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा हमारे सामने प्रस्तुत किए गए थे। याचिकाकर्ता द्वारा दायर संख्या 1519/1986, जिस पर इस फैसले के उत्तरार्ध में कुछ और विवरणों से निपटा जाएगा, लेकिन उपरोक्त दस्तावेजों का संदर्भ इस स्थान पर दिया गया है ताकि घटनाओं के अनुक्रम को पूरा किया जा सके।

(6) 21 मार्च 1985 को आयोजित न्यायाधीशों की बैठक में लिए गए निर्णय के परिणामस्वरूप प्रतिवादी क्रमांक 1 द्वारा 28 मार्च 1985 परिशिष्ट पी 26 का एक पत्र राज्य सरकार को इस आशय से संबोधित किया गया था कि कार्य एवं आचरण परिवीक्षा अवधि के दौरान याचिकाकर्ता की स्थिति संतोषजनक नहीं थी और उनकी सेवाएं तुरंत पर्यवसान की जानी चाहिए और राज्य सरकार से अनुरोध किया गया था कि राज्य में लागू पंजाब सुपीरियर ज्यूडिशियल सर्विस रूल्स, 1963 के नियम 10(3) के तहत आवश्यक कदम उठाए जाएं। हरियाणा की ओर से इस संबंध में तुरंत कदम उठाया जा सकता है। उक्त पत्र के साथ उनकी गोपनीय व्यक्तिगत फाइल भेजी गई थी। 22 मार्च, 1985 को प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल को एक पत्र भी भेजा गया था, जिसमें कहा गया था कि याचिकाकर्ता के न्यायालय से न्यायिक कार्य तुरंत वापस ले लिया जाना चाहिए। इस निर्देश का अनुपालन किया गया और उन्होंने 25 मार्च 1985 से न्यायिक कार्य नहीं किया।

(7) इस बीच, ऊपर उल्लिखित छह घटनाओं के अलावा, एक और घटना घटी जिसका वर्णन याचिका के पैरा 29 में किया गया है और इसे इस प्रकार संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है:

याचिकाकर्ता की अदालत में एक दुर्घटना से उत्पन्न मोटर वाहन अधिनियम के तहत वर्ष 1981 में दायर तीन मुआवजे के मामले लंबित थे। श्री एमबी सांघी अधिवक्ता उत्तरदाताओं में से एक के अधिवक्ता थे। इन मामलों को याचिकाकर्ता द्वारा समेकित किया गया था, - 15 फरवरी, 1985 के आदेश के तहत और उसी दिन श्री एमबी सांघी के भाई श्री एसके सांघी अधिवक्ता की उपस्थिति में मुद्दे तय किए गए थे। फिर इन मामलों को 15 और 16 मार्च, 1985 को दावेदारों के साक्ष्य दर्ज करने के लिए और 22 मार्च, 1985 को उत्तरदाताओं के साक्ष्य के लिए तय किया गया था। दावेदारों ने 15 मार्च, 1985 को डॉ. आरएस चौहान को बुलाया था, जिन्होंने संचालन किया था। मृतक की पोस्टमार्टम जांच, जो दुर्घटना का शिकार था, और घायलों की मेडिको-लीगल रिपोर्ट तैयार की थी और एक औपचारिक गवाह था। 15 मार्च 1985 को डॉ. आरएस चौहान अपनी गवाही के लिए याचिकाकर्ता की अदालत में उपस्थित हुए। वह बाहर से आया है। जब 15 मार्च, 1985 को मामलों को साक्ष्य के लिए लिया गया, तो श्री एमबी सांघी अधिवक्ता ने याचिकाकर्ता के सामने कहा कि वह गवाह से जिरह करने में असमर्थ थे क्योंकि उनके पास मामले का संक्षिप्त विवरण नहीं था क्योंकि यह उनकी उस तारीख के लिए डायरी में नोट नहीं किया गया था। याचिकाकर्ता द्वारा मामले को दो घंटे के लिए स्थगित कर दिया गया ताकि श्री सांघी को अपना विवरण मिल सके ताकि डॉ. आरएस चौहान की गवाही दर्ज की जा सके। उन्होंने डॉ. आरएस चौहान की आगे की जांच के लिए मामलों को दोपहर 2 बजे उठाने का निर्देश दिया। भोजनावकाश के बाद जब सुनवाई दोबारा शुरू हुई तो श्री सांघी को छोड़कर प्रतिवादियों के अन्य सभी अधिवक्ताों को इस गवाह से पूछताछ पर कोई आपत्ति नहीं थी।

हालाँकि, श्री सांघी ने इस आधार पर उनसे जिरह नहीं की कि मामला उस तारीख को सुनवाई के लिए तय नहीं किया गया था। अन्य अधिवक्ता द्वारा जिरह सहित अपना बयान दर्ज करने के बाद, याचिकाकर्ता ने गवाह को आरोपमुक्त कर दिया। श्री एमबी सांघी अधिवक्ता भड़क गये। उन्होंने बार एसोसिएशन, नारनौल की तत्काल बैठक बुलाने के लिए अनुलग्नक पी. 24 की मांग की। उन्होंने जिला न्यायाधीश, नारनौल को एक शिकायत परिशिष्ट पी. 24.ए भी दी। 18 मार्च, 1985 को अतिरिक्ताह्न 3.00 बजे बार एसोसिएशन की एक बैठक आयोजित की गई। याचिकाकर्ता के अनुसार, श्री सांघी के कुछ दोस्त अतिरिक्ताह्न 3 बजे एकत्र हुए और 3.30 बजे से पहले तितर-बितर हो गए। 3.30 बजे कोई बैठक नहीं हुई और बाद में एक प्रस्ताव अनुलग्नक पी 25 को बार एसोसिएशन नारनौल द्वारा पारित दिखाया गया था। बार एसोसिएशन के सचिव ने इस प्रस्ताव की एक प्रति उच्च न्यायालय को भेजी जो उसे 22 मार्च, 1985 को प्राप्त हुई। हालाँकि, 21 मार्च, 1985 को आयोजित न्यायाधीशों की बैठक में इस प्रस्ताव पर विचार नहीं किया गया क्योंकि यह एक दिन बाद प्राप्त हुआ था।

(8) प्रतिवादी संख्या 1 के अधीनस्थ जिलों में न्यायिक अदालतों का वर्ष में एक बार सतर्कता/निरीक्षण न्यायाधीश द्वारा निरीक्षण किया जाता है। ऐसे निरीक्षण आम तौर पर हर साल फरवरी/मार्च के महीनों में किए जाते हैं। 18 मार्च, 1985 से न्यायमूर्ति एस. पी. गोयल द्वारा नारनौल की न्यायिक अदालतों का निरीक्षण किया जाना निर्धारित था। हालाँकि, यह निर्धारित निरीक्षण रद्द कर दिया गया था और बाद में 15 अप्रैल, 1985 से 19 अप्रैल, 1985 तक न्यायमूर्ति एस. पी. गोयल द्वारा आयोजित किया गया था। याचिकाकर्ता के न्यायालय का निरीक्षण निरीक्षण न्यायाधीश द्वारा भी किया गया था। याचिकाकर्ता का आरोप है कि श्री मेहलावत की शिकायत की जांच इंस्पेक्टिंग न्यायमूर्ति से भी करायी गयी थी. माननीय जज ने याचिकाकर्ता के काम और आचरण के बारे में 'बी प्लस' यानी 'अच्छी' रिपोर्ट दी। उनका कहना है कि निरीक्षण न्यायाधीश की रिपोर्ट में उल्लिखित एकमात्र प्रतिकूल बात, जो उन्हें प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा दिनांक 24 जुलाई, 1985 के अनुबंध पी. 28.ए के पत्र के माध्यम से सूचित की गई थी, निम्नलिखित प्रभाव वाली है:-

8. बार के सदस्यों एवं जनता के प्रति व्यवहार।	बार के कुछ सदस्य उनके असहनीय स्वभाव के बारे में शिकायत कर रहे थे।

(9) याचिकाकर्ता का कहना है कि 25 मार्च, 1985 को ट्रिब्यून में एक समाचार सूची अनुलग्नक पी. 23 छपा था, जिससे उन्हें न्यायाधीशों की बैठक में लिए गए निर्णय के बारे में पता चला। उन्होंने 28 मार्च, 1985 को प्रतिवादी संख्या 1 को एक अभ्यावेदन अनुलग्नक पी. 28 दिया।

(10) उन्होंने आगे तर्क दिया कि 21 मार्च, 1985 को न्यायाधीशों की बैठक में लिए गए निर्णय को सही ठहराने के लिए राज्य सरकार को उनकी सेवाएं पर्यवसान करने की सिफारिश करने

के लिए, निरीक्षण न्यायाधीश की रिपोर्ट में उन्हें 'बी प्लस/अच्छा' ग्रेड दिया गया था। 27 जुलाई, 1985 को हुई बैठक में उनके काम और आचरण को बिना कोई कारण बताए या सुनवाई का अवसर दिए बिना 'सी/असंतोषजनक' कर दिया गया, उनका आरोप है कि यह कार्रवाई अवैध, मनमानी और भेदभावपूर्ण है। उन्होंने 21 मार्च, 1985 के निर्णय और आदेश को वापस लेने के लिए 16 अगस्त, 1985 को प्रतिवादी संख्या 1 के रजिस्ट्रार को एक और अभ्यावेदन अनुबंध पी. 29 प्रस्तुत किया। हालांकि, उन्हें अभ्यावेदन अनुलग्नक पी. 28 और पी. 29 का कोई जवाब नहीं मिला। सर्वोच्च न्यायालय में उनकी रिट याचिका के लंबित रहने के दौरान उन्हें प्रतिवादी संख्या 1 की ओर से दायर एक हलफनामे से पता चला कि उपरोक्त दोनों अभ्यावेदन को अदालत ने खारिज कर दिया था। उन्हें सर्वोच्च न्यायालय में अपनी रिट याचिका की सुनवाई के दौरान यह भी पता चला कि राज्य सरकार ने प्रतिवादी संख्या 1 के पत्र अनुबंध पी. 26 के संदर्भ में याचिकाकर्ता की परिवीक्षा अवधि बढ़ाने का अनुरोध किया था। हालाँकि, राज्य सरकार के इस सुझाव को प्रतिवादी संख्या 1 ने खारिज कर दिया और याचिकाकर्ता की सेवाओं को पर्यवसान करने के अपने पहले के फैसले को दोहराया। उनका तर्क है कि हरियाणा सिविल सेवा (न्यायिक शाखा) में नियुक्त व्यक्तियों को दो साल की अवधि के लिए परिवीक्षा पर रहना पड़ता है, जिसे एक और वर्ष तक बढ़ाया जा सकता है। श्री केके डोडा और श्री एमपी मेहंदीरत्ता को शुरू में परिवीक्षा पर उक्त सेवा में नियुक्त किया गया था। प्रतिवादी क्रमांक 1 ने असंतोषजनक कार्य एवं आचरण के कारण उनकी सेवाएँ पर्यवसान करने की अनुशंसा राज्य सरकार से की। हालाँकि, प्रतिवादी संख्या 2 के सुझाव पर उनकी परिवीक्षा अवधि एक वर्ष बढ़ा दी गई और बाद में उन्हें उक्त सेवा के सदस्यों के रूप में पुष्टि की गई। उनकी शिकायत है कि उनके साथ समान व्यवहार नहीं किया गया और दो साल की परिवीक्षा अवधि की पर्यवसानि से पहले उनकी सेवाएं पर्यवसान करने की सिफारिश पर कायम रहने से उनके साथ भेदभाव किया गया है।

(11) उपरोक्त आधारों के परिप्रेक्ष्य में, प्रतिवादी संख्या 2 को सिफारिश करने के लिए 21 मार्च, 1985 को आयोजित न्यायाधीशों की बैठक में प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा लिए गए निर्णय को रद्द करने के लिए सर्टिओरीरी रिट जारी करने के लिए प्रार्थना की गई है। उसकी सेवाएँ पर्यवसान/मुक्त कर दी जाएँ; 27 जुलाई, 1985 को आयोजित न्यायाधीशों की बैठक में लिए गए निर्णय को रद्द करने के लिए, परिवीक्षा के दूसरे वर्ष के लिए याचिकाकर्ता के कार्य और आचरण के बारे में निरीक्षण न्यायाधीश द्वारा दी गई 'बी-प्लस' रिपोर्ट को घटाकर 'सी' रिपोर्ट कर दिया जाए; प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा 28 मार्च, 1985 और 16 अगस्त, 1985 के क्रमशः अनुलग्नक पी. 28 और पी. 29 के अभ्यावेदन को अस्वीकार करने के लिए लिए गए निर्णय को रद्द करने के लिए; राज्य सरकार द्वारा उसकी परिवीक्षा अवधि बढ़ाने के प्रस्ताव को खारिज करते हुए प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा लिए गए निर्णय को रद्द करने और प्रतिवादी संख्या 2 को प्रतिवादी द्वारा की गई सिफारिश के अनुसरण में अपनी सेवाएं पर्यवसान न करने का निर्देश देने के लिए परमादेश रिट जारी करने के लिए। क्रमांक 1, - दिनांक 28 मार्च 1985 के पत्र, अनुलग्नक पी. 26 के माध्यम से। आगे यह

प्रार्थना की गई है कि रिट याचिका का अंतिम निर्णय लंबित होने तक, उत्तरदाताओं को यथास्थिति बनाए रखने का निर्देश दिया जाना चाहिए जैसा कि 10 सितंबर 1985 में उनकी सेवा में बने रहने के संबंध में था।

(12) जब याचिका 2 मई, 1986 को खण्ड नयायपीठ के समक्ष मोशन सुनवाई के लिए आई, तो प्रतिवादी संख्या 2 की ओर से उपस्थित हुए विद्वक अधिवक्ता ने नयायपीठ द्वारा जारी किए गए मोशन के नोटिस को स्वीकार कर लिया और आगे एक बयान दिया, बार में कहा गया कि प्रतिवादी संख्या 1 की सिफारिश पर प्रतिवादी संख्या 2 द्वारा पारित आदेश रिट याचिका के निर्णय तक प्रभावी नहीं होगा। प्रतिवादी संख्या 1 ने लिखित बयान में, जो उसकी ओर से रजिस्ट्रार द्वारा दायर किया गया है, याचिका में उल्लिखित तथ्यों पर ज्यादा विवाद नहीं उठाया है। यह तर्क दिया गया है कि इसके द्वारा की गई सिफारिश, - पत्र अनुबंध पी. 26 के माध्यम से, नियमों के नियम 10(3) के अनुरूप है। संविधान के अनुच्छेद 311(2) के प्रावधान लागू नहीं होते हैं क्योंकि उपरोक्त नियम 10(3) के अनुसरण में जो आदेश पारित किया जाएगा वह पदच्युति, निष्कासन या पद में कमी का नहीं है। याचिकाकर्ता की दो साल की परिवीक्षा अवधि 2 मई, 1985 को पर्यवसान होने वाली थी। अतिरिक्त जिला और सत्र न्यायाधीश के रूप में उनके प्रदर्शन की समीक्षा की गई और विचार करने पर, इस अवधि के दौरान उनका काम और आचरण संतोषजनक नहीं पाया गया और इसलिए उन्हें पर्यवसान करने का निर्णय लिया गया। उनकी सेवाएं तुरंत और इस आशय की एक सिफारिश प्रतिवादी संख्या 2 को की गई थी, - पत्र, अनुबंध पी. 26 के माध्यम से। यह तर्क दिया गया है कि याचिकाकर्ता संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत इस न्यायालय के रिट क्षेत्राधिकार को लागू करने का हकदार नहीं है क्योंकि याचिकाकर्ता के किसी भी अधिकार का उल्लंघन नहीं किया गया है। यह भी कहा गया है कि हिसार में उनकी पोस्टिंग के दौरान याचिकाकर्ता के खिलाफ कई शिकायतें प्राप्त हुई थीं। फिर, नारनौल में उनकी पोस्टिंग के दौरान कई शिकायतें प्राप्त हुईं, जिनका याचिका में ही विस्तार से उल्लेख किया गया है। शिकायत दिनांक 11 सितंबर, 1984 अनुलग्नक पी. 13 की जांच न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह ने की, जो नारनौल सत्र प्रभाग के सतर्कता न्यायाधीश थे। अभिलेख की जांच करने के बाद, याचिकाकर्ता और श्री परशोतम दास गुप्ता, सहायक जिला अधिवक्ता और सहायक लोक अभियोजक (क्रमशः अनुलग्नक पी. 14 और पी. 15) के बयान, विद्वक न्यायाधीश ने निष्कर्ष निकाला: -

> "इस स्थिति में, यह नहीं कहा जा सकता है कि श्री आरएन महलावत द्वारा दायर शिकायत में शामिल आरोप निराधार हैं। मेरे विचार से शिकायत में आगे की जांच की आवश्यकता है।"

एक अन्य गुमनाम शिकायत अनुलग्नक पी. 17 के संबंध में, विद्वक न्यायाधीश ने कहा:-

> "जाहिर है, उपरोक्त सभी स्थगन फ़ाइल पर लाल लेबल वाले बहुत पुराने मामलों में अनावश्यक रूप से किए गए हैं, हालांकि शिकायत अज्ञात है, इस पर गौर करने की आवश्यकता है।"

श्री एम.बी. सांघी, अधिवक्ता अनुलग्नक पी. 19 की एक अन्य शिकायत, जिस पर न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह ने भी गौर किया था, पर विद्वक न्यायाधीश ने इस प्रकार टिप्पणी की:-

"यह न्यायिक मामलों में श्री आईसी जैन के काम करने के तरीके का एक ज्वलंत उदाहरण है।"

एक अन्य शिकायत अनुलग्नक पी. 21 को भी सुरिंदर सिंह जे. द्वारा अवधारित था और उनकी रिपोर्ट अनुलग्नक पी. 16 में अंतिम पैराग्राफ शामिल है, जिसे पहले ही ऊपर पुन: प्रस्तुत किया जा चुका है। परिवीक्षा अवधि के दौरान याचिकाकर्ता के कार्य और आचरण पर 21 मार्च, 1985 को आयोजित एक पूर्ण न्यायालय की बैठक में विद्वक न्यायाधीशों द्वारा विचार किया गया और यह निर्णय लिया गया कि याचिकाकर्ता की सेवाओं को पर्यवसान करने की सिफारिश हरयाणा राज्य को की जाए। तदनुसार, अनुलग्नक पी. 26 के माध्यम से सिफारिश की गई थी।

(13) याचिका में दिए गए अन्य कथनों से निपटते हुए, प्रतिवादी संख्या 1 की ओर से कहा गया है कि बार एसोसिएशन, हिसार ने 27 सितंबर, 1983 को हुई अपनी बैठक में संकल्प अनुबंध पी 4 पारित किया, जिसमें यह था निर्णय लिया गया कि बार के सदस्यों के प्रति याचिकाकर्ता का रवैया और व्यवहार अत्यंत निंदनीय, असभ्य, असहयोगी और अपमानजनक होने के कारण निंदनीय था। यह स्वीकार किया गया है कि हिसार सत्र प्रभाग के सतर्कता न्यायाधीश, न्यायमूर्ति जीसी मितल ने याचिकाकर्ता को वर्ष 1983-84 के लिए 'बी/संतोषजनक' टिप्पणी दी थी, जिसका समर्थन किया गया था और इसे पूर्ण न्यायालय द्वारा भी दर्ज किया गया था। हालाँकि, न्यायमूर्ति एएस बैंस (सेवानिवृत्त होने के बाद से) द्वारा अपने फैसले के अनुबंध पी. 7 में दर्ज की गई टिप्पणियों का उल्लेख इस आशय से किया गया है कि याचिकाकर्ता द्वारा दिया गया निर्णय बेहद खराब था और अभिलेख पर मौजूद सबूतों पर आधारित नहीं था। याचिकाकर्ता से अभ्यावेदन अनुलग्नक पी. 8. की प्राप्ति स्वीकार की जाती है। हालाँकि, यह कहा गया है कि प्रतिवादी संख्या 1 की प्रशासनिक समिति ने निर्णय लिया कि प्रशासनिक पक्ष के मामले में कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती है और याचिकाकर्ता को जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल के माध्यम से तदनुसार सूचित किया गया था, - पत्र, दिनांक 29 नवंबर, 1984 अनुबंध आर 1 के माध्यम से। आगे कहा गया है कि उनके खिलाफ शिकायतों की संख्या को देखते हुए, याचिकाकर्ता को हिसार से नारनौल स्थानांतरित कर दिया गया था। यह स्वीकार किया गया है कि याचिकाकर्ता ने दिनांक 26 सितंबर, 1983 की घटना की सूचना एवं रिपोर्ट की एक प्रति जिला एवं सत्र न्यायाधीश, हिसार के माध्यम से, श्री नर सिंह बिश्नोई, अधिवक्ता की, अध्यक्ष, बार एसोसिएशन, हिसार को संबोधित, दिनांक 10 अक्टूबर, 1983 की थी और वही दायर किया गया था। याचिकाकर्ता को उसके द्वारा मांगी गई कोई सलाह नहीं दी गई। मामला न्यायिक होने के कारण उन्हें सलाह नहीं दी जानी चाहिए थी। यह तर्क दिया गया है कि उच्च न्यायालय की ओर से चुप्पी न तो याचिकाकर्ता की कार्रवाई की मंजूरी है और न ही निंदा है। यह दावा किया गया है कि याचिकाकर्ता का हिसार में काम संतोषजनक नहीं था। अतिरिक्त जिला न्यायाधीश द्वारा प्रत्येक

माह किये गये कार्यों के निस्तारण के मापदण्डों का मूल्यांकन इकाईयों द्वारा किया जाता है, न कि मुकदमों की संख्या के निस्तारण से। मई, 1983 से अप्रैल, 1984 तक उनके हिसार प्रवास के दौरान, अधिकांश महीनों में यूनिटों के संदर्भ में निपटान निर्धारित 75 यूनिट नहीं था। यह स्थिति अनुलग्नक आर. 3 में प्रदर्शित की गई है। आगे कहा गया है कि न्यायमूर्ति जी. सी. मितल द्वारा दी गई टिप्पणियां बी/संतोषजनक, निरीक्षण टिप्पणियां हैं जबकि न्यायमूर्ति ए. एस. बैंस द्वारा निर्णय अनुबंध पी. 7 न्यायिक पक्ष में दर्ज की गई टिप्पणियां हैं। आगे कहा गया है कि नारनौल में रहने के दौरान भी, याचिकाकर्ता ने अधिकांश महीनों के लिए प्रति माह 75 यूनिट का निर्धारित मानदंड नहीं दिया, जैसा कि विवरण अनुबंध आर 4 में बताया गया है।

(14) श्री आरएन मेहलावत अधिवक्ता की शिकायत के संबंध में, यह माना जाता है कि इसके साथ कोई हलफनामा नहीं था, लेकिन यह कहा गया है कि यह आवश्यक नहीं है कि जांच से पहले हर शिकायत के साथ एक हलफनामा होना चाहिए। शिकायत पर हस्ताक्षर किए गए थे और इसमें सत्यापन योग्य तथ्य शामिल थे और इस प्रकार इसे विद्वक न्यायाधीश द्वारा देखा जाना आवश्यक था। विशेष दूत के माध्यम से मुकदमे का रिकार्ड और पेशी रजिस्टर तलब किया गया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि याचिकाकर्ता का बयान 30 सितंबर, 1984 को न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह द्वारा दर्ज किया गया था। हालांकि, प्रारंभिक तथ्य-खोज जांच होने के कारण, याचिकाकर्ता को उनके ख़िलाफ़ अन्य शिकायतों के संबंध में विद्वक न्यायाधीश द्वारा जांच करने और संबद्ध करने की आवश्यकता नहीं थी। यह स्वीकार किया गया है कि श्री महलावत द्वारा अवैध परितोषण के रूप में 25,000 रुपये प्राप्त करने के आरोप के संबंध में विद्वक न्यायाधीश द्वारा याचिकाकर्ता से कोई प्रश्न नहीं पूछा गया था लेकिन यह समझाया गया है कि ऐसे मामलों में यह सतर्कता न्यायाधीश का काम है कि वह जो भी प्रश्न आवश्यक समझे, पूछे। श्री एमबी सांघी अधिवक्ता और श्री आरएन महलावत, अधिवक्ता की घनिष्ठ मित्रता और एफआईआर संख्या 62, दिनांक 27 मार्च, 1985 के पंजीकरण से संबंधित अन्य कथनों को जानकारी के अभाव में अस्वीकार किया गया है। इसमें कोई विवाद नहीं है कि जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल के माध्यम से श्री एमबी सांघी अधिवक्ता की दिनांक 11 अक्टूबर, 1984 की शिकायत पर याचिकाकर्ता की टिप्पणियां मांगी गई थीं, जिसमें उनसे पूछा गया था कि उन्होंने किस कानून या नियम के तहत एचयूएफ मामले में निर्णय सुरक्षित रखा है। मोहन लाल बनाम होंडा राम के मामले में उन्होंने 10 अक्टूबर, 1984 को इस आधार पर अनिश्चितकालीन तारीख तय की कि पार्टियों ने समझौते के लिए अपनी इच्छा दिखाई है, जैसा कि उनके आदेश दिनांक 22 सितंबर, 1984 में उल्लेख किया गया है। यह कहा गया है कि प्रारंभिक के दौरान तथ्य-खोज जांच में दोषी अधिकारी को संबद्ध करना आवश्यक नहीं है। यह विद्वक न्यायाधीश का काम था कि वह वह जानकारी मांगे जो वह उचित समझे। इस बात से इनकार किया गया है कि केवल श्री महलावत की शिकायत ही विद्वक न्यायाधीश को सौंपी गई थी। नारनौल सत्र प्रभाग के सतर्कता न्यायाधीश होने के नाते उन्हें याचिकाकर्ता के खिलाफ सभी शिकायतों से निपटने का अधिकार था।

(15) यह दावा किया गया है कि जब 21 मार्च, 1985 को याचिकाकर्ता की सेवाओं से मुक्ति की सिफारिश राज्य सरकार को की गई थी, तो याचिकाकर्ता के संपूर्ण सेवा अभिलेख को ध्यान में रखा गया था। आगे कहा गया है कि याचिकाकर्ता के 21 जनवरी, 1986 के अभ्यावेदन पर 21 फरवरी, 1986 को आयोजित न्यायाधीशों की बैठक में विचार किया गया और उसे खारिज कर दिया गया। इस बात से इनकार किया जाता है कि 21 मार्च, 1985 को न्यायाधीशों की बैठक में मामला उठाए जाने से पहले याचिकाकर्ता की उपयुक्तता पर विचार करने के लिए कोई औपचारिक एजेंडा नहीं था। एजेंडे में न्यायाधीश सुरिंदर सिंह की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सूची शामिल था। विशेष रूप से उल्लेख किया गया था कि:-

"मामले को माननीय न्यायाधीशों की बैठक में रखा जाए ताकि यह निर्णय लिया जा सके कि इस संबंध में क्या कार्रवाई की जानी चाहिए, खासकर तब जब न्यायिक अधिकारी, यानी श्री आईसी जैन, ने अभी तक परिवीक्षा की अवधि पूरी नहीं की है।"

(16) यह स्वीकार किया गया है कि नारनौल में अधीनस्थ न्यायालयों का निरीक्षण 15 अप्रैल, 1986 से न्यायाधीश एसपी गोयल द्वारा किया गया था। हालाँकि, यह दावा किया गया है कि प्रतिवादी संख्या 1 के लिए सतर्कता न्यायाधीश द्वारा याचिकाकर्ता के न्यायालय के औपचारिक निरीक्षण की प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं था क्योंकि उसकी सेवाओं से मुक्त करने की सिफारिश करने से पहले 21 मार्च, 1985 तक का उसका पूरा अभिलेख विचार में लिया गया था। उनकी सेवाएं पर्यवसान करने का निर्णय न केवल न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह की रिपोर्ट पर आधारित है, बल्कि समग्र रूप से उनके काम और आचरण पर भी आधारित है, जो असंतोषजनक पाया गया था। प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा की गई सिफारिश नियमों के नियम 10(3) के अनुसार थी जो परिवीक्षाधीन के रूप में अपनी सेवाओं से मुक्त करने के लिए और यह सेवा से निष्कासन के समान नहीं है। आगे कहा गया है कि याचिकाकर्ता को सुनवाई का कोई अवसर देने का सवाल ही नहीं उठता और न ही उस पर लागू नियमों के तहत इसकी परिकल्पना की गई है। प्रतिवादी क्रमांक 1 का कृत्य प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन नहीं है। ट्रिब्यून में 25 मार्च, 1985 के अनुबंध पी. 23 में छपी खबर को गलत बताया गया है, जिसका पूर्ण न्यायालय की बैठक के फैसले और उसके द्वारा राज्य सरकार को की गई सिफारिश से कोई लेना-देना नहीं है। यह कहा गया है कि प्रतिवादी संख्या 1 न तो ब्रीफिंग देता है और न ही किसी समाचार का खंडन करना आवश्यक समझता है। यह स्वीकार किया गया है कि बार एसोसिएशन, नारनौल की 16 मार्च, 1985 को हुई बैठक में पारित प्रस्ताव की एक प्रति 22 मार्च, 1985 को प्राप्त हुई थी, जिसमें याचिकाकर्ता के सामान्य व्यवहार, रवैये और संदिग्ध निष्ठा के बारे में शिकायत की गई थी। हालाँकि, उस पर कार्रवाई आवश्यक नहीं थी क्योंकि उस तारीख से पहले 21 मार्च, 1985 को हुई अपनी बैठक में पूर्ण न्यायालय ने याचिकाकर्ता की सेवाओं को पर्यवसान करने के लिए राज्य सरकार को सिफारिश करने का निर्णय लिया था। बार एसोसिएशन के उक्त प्रस्ताव के पारित होने से पहले क्या हुआ, इस बारे में याचिका में दिए गए दावों को जानकारी के अभाव में खारिज किया जाता

है। यह माना जाता है कि न्यायाधीश एसपी गोयल ने अप्रैल, 1985 के महीने में याचिकाकर्ता के न्यायालय के निरीक्षण के बाद याचिकाकर्ता को 'बी-प्लस/गुड' रिपोर्ट दी थी। केवल उसमें निहित प्रतिकूल टिप्पणियाँ इस आशय की थीं कि बार के कुछ सदस्यों ने उसके असहनीय स्वभाव के बारे में शिकायत की थी, जो याचिकाकर्ता को बताई गई थी। श्री मेहलावत द्वारा की गई शिकायत की न्यायमूर्ति एसपी गोयल द्वारा जांच के संबंध में कहा गया है कि इस विवाद का समर्थन करने के लिए उच्च न्यायालय के अभिलेख पर कुछ भी नहीं है। 27 जुलाई, 1985 को आयोजित पूर्ण न्यायालय की बैठक में विद्वक न्यायाधीशों द्वारा न्यायमूर्ति एसपी गोयल की टिप्पणियों पर विचार किया गया और प्रासंगिक तथ्यों, सामग्री और याचिकाकर्ता का सेवा अभिलेख पर विचार करने के बाद याचिकाकर्ता को वर्ष 1984-85 के लिए 'सी/औसत से नीचे' गोपनीय टिप्पणियों से सम्मानित किया गया। आगे कहा गया है कि निरीक्षण न्यायाधीश द्वारा दी गई टिप्पणियाँ तब तक केवल अनुशंसात्मक प्रकृति की होती हैं जब तक कि उन्हें पूर्ण न्यायालय की बैठक में न्यायाधीशों द्वारा अनुमोदित नहीं किया जाता है और वार्षिक गोपनीय टिप्पणियों में पूर्ण न्यायालय द्वारा इसकी ग्रेडिंग अंतिम होती है। याचिकाकर्ता को सुनवाई का कोई अवसर दिए जाने की आवश्यकता नहीं थी और न्यायालय की कार्रवाई अवैध, मनमानी या भेदभावपूर्ण नहीं है। यह कहा गया है कि याचिकाकर्ता के 16 अगस्त, 1985 के अभ्यावेदन पर 27 अगस्त, 1985 को आयोजित पूर्ण न्यायालय की बैठक में विचार किया गया और इसे खारिज कर दिया गया। इस अभ्यावेदन के संबंध में याचिकाकर्ता को कोई उत्तर नहीं भेजा गया। यह स्वीकार किया गया है कि मुख्य सचिव, हरियाणा सरकार ने एक पत्र के माध्यम से प्रतिवादी संख्या 1 से अनुरोध किया था कि याचिकाकर्ता की परिवीक्षा अवधि में विस्तार के संबंध में मामले पर विचार किया जा सकता है और उस संबंध में लिए गए निर्णय से सरकार को अवगत कराया जा सकता है। न्यायाधीशों की एक बैठक में इस मामले पर विचार किया गया और निर्णय लिया गया कि यह न्यायालय याचिकाकर्ता की परिवीक्षा अवधि बढ़ाने के पक्ष में नहीं है। राज्य सरकार को तदनुसार सूचित किया गया था, - दिनांक 5 सितंबर, 1985 के पत्र के माध्यम से। श्री केके डोडा के मामले के संबंध में, यह कहा गया है कि परिवीक्षा अवधि के दौरान, यानी 1970-71 से 1972-73 तक, उन्होंने 'बी/औसत/संतोषजनक' वार्षिक रिपोर्ट अर्जित किया और श्री एमपी मेहंदीरत्ता ने वर्ष 1977-78 के लिए 'बी/औसत/संतोषजनक' और वर्ष 1978-79 और 1979-80 के लिए 'सी/औसत से नीचे' के रूप में वार्षिक गोपनीय टिप्पणियां अर्जित कीं, श्री मेहंदीरत्ता ने हरियाणा सिविल (न्यायिक शाखा) के सदस्य हैं, जैसा कि श्री केके डोडा हरियाणा सुपीरियर न्यायिक सेवा के सदस्य के रूप में पदोन्नति से पहले थे। वे सिविल सेवा (न्यायिक शाखा) में स्थायी हो गये। उन्हें शुरू में हरियाणा सिविल सेवा (न्यायिक शाखा) के अधिकारियों के रूप में नियुक्त किया गया था, जबकि याचिकाकर्ता को सीधे सेवा के सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया है और इस प्रकार वे सेवा नियमों के विभिन्न सेटों द्वारा शासित सेवा के विभिन्न वर्गों से संबंधित हैं। याचिकाकर्ता के अनुसार उनके मामलों में कोई सांठगांठ नहीं है। यह कहा गया है कि रिट याचिका गलत है और खारिज किये जाने योग्य है।

(17) प्रतिवादी संख्या 2 की ओर से दायर लिखित बयान में, परिवीक्षाधीन के रूप में याचिकाकर्ता की सेवा के संबंध में प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा विस्तार से बताई गई कानूनी स्थिति को अपनाया गया है। यह कहा गया है कि याचिकाकर्ता, जो एक परिवीक्षाधीन सीधी भर्ती है, की सेवा को राज्यपाल द्वारा बिना कोई कारण बताए उच्च न्यायालय के परामर्श से पर्यवसान किया जा सकता है यदि उसका कार्य और आचरण असंतोषजनक पाया जाता है। इस बात से इनकार किया गया है कि याचिकाकर्ता अपनी परिवीक्षाधीन सेवा से मुक्ति का आदेश पारित करने से पहले सुनवाई के अवसर का हकदार था। यह स्पष्ट किया गया है कि प्रतिवादी की अनुशंसा पर। संख्या 1, राज्य सरकार द्वारा याचिकाकर्ता की सेवाओं को पर्यवसान करने का निर्णय लिया गया था, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय और बाद में इस न्यायालय द्वारा दिए गए स्थगन आदेश के कारण, आगे की कार्रवाई स्थगित कर दी गई है। तथ्य यह है कि कुछ अधिकारियों की परिवीक्षा अवधि बढ़ा दी गई है, इसका मतलब यह नहीं है कि सभी परिवीक्षाधीन अधिकारी परिवीक्षा अवधि के विस्तार के हकदार हैं। सक्षम प्राधिकारी, जो वर्तमान मामले में प्रतिवादी संख्या 1 है, को प्रत्येक मामले पर उसकी योग्यता के आधार पर विचार करना होगा।

(18) याचिकाकर्ता द्वारा प्रतिवादी संख्या 1 के लिखित बयान की प्रतिकृति दायर की गई है, जिसमें याचिका में जो कुछ भी पहले ही कहा गया है उसे फिर से दोहराया गया है और लिखित बयान में दिए गए कथनों पर विवाद किया गया है।

(19) हमने पक्षों के विद्वक अधिवक्ता को विस्तार से सुना है। इससे पहले कि हम विद्वक अधिवक्ता के प्रतिद्वंद्वी तर्कों की चर्चा शुरू करें, हमें नियमों के नियम 10 के प्रावधानों को यहां पुन: प्रस्तुत करना आवश्यक लगता है: -

> "10. परिवीक्षा.- (1) सेवाओं में सीधे भर्ती किए गए लोग दो वर्ष की अवधि के लिए परिवीक्षा पर रहेंगे, जिसे राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय के परामर्श से इस प्रकार बढ़ाया जा सकता है कि कुल अवधि तीन वर्ष से अधिक न हो:
>
> परन्तु यह कि राज्यपाल किसी भी मामले की असाधारण परिस्थिति में उच्च न्यायालय से परामर्श कर परिवीक्षा की अवधि कम कर सकते हैं।
>
> (2) *****
>
> (3) यदि राज्यपाल की राय में, सीधी भर्ती वाले व्यक्ति का कार्य या आचरण संतोषजनक नहीं है, तो वह परिवीक्षा अवधि या परिवीक्षा की विस्तारित अवधि, यदि कोई हो, के दौरान किसी भी समय, परामर्श से कर सकता है। उच्च न्यायालय, बिना कोई कारण बताए, ऐसी सीधी भर्ती की सेवाओं से छूट देता है।"

यहां यह ध्यान दिया जा सकता है कि वर्ष 1975 तक पंजाब सिविल सेवा (दंड और अपील) नियम, 1952 के नियम 9, जैसा कि हरियाणा राज्य पर लागू था, निम्नानुसार प्रदान किया गया था: -

"जहां किसी परिवीक्षा अवधि के दौरान या उसके अंत में, किसी विशिष्ट गलती के लिए या असंतोषजनक अभिलेख या सेवा की अनुपयुक्तता का संकेत देने वाली प्रतिकूल रिपोर्ट के कारण परिवीक्षाधीन व्यक्ति के रोजगार को पर्यवसान करने का प्रस्ताव है, तो परिवीक्षाधीन को अवगत कराया जाएगा नियुक्ति पर्यवसान करने के लिए सक्षम प्राधिकारी द्वारा आदेश पारित करने से पहले, ऐसे प्रस्ताव के आधार और इसके खिलाफ कारण बताने का अवसर दिया गया है।"

दोनों पक्षों ने स्वीकार किया कि उपरोक्त नियम वर्ष 1975 में हटा दिया गया था और अब लागू नहीं है।

(20) हम, सबसे पहले, प्रतिद्वंद्वी दलों के लिए विद्वक अधिवक्ता द्वारा अपनाई गई दो चरम मुद्राओं को अपनाते हैं। श्री जैन की दलील थी कि याचिकाकर्ता को सीधी भर्ती के कोटे के एक स्थायी पद पर परिवीक्षा पर नियुक्त किया गया है, जिस पद पर उसे नियुक्त किया गया है उस पर उसका अधिकार है और उसकी सेवाओं को बिना भुगतान के पर्यवसान नहीं किया जा सकता है। *परषोतम लाल ढींगरा बनाम भारत संघ* (1) में सदियों पुराने स्थापित कानून के मद्देनजर उनका उचित अवसर का उल्लेख किया जाना चाहिए और खारिज कर दिया जाना चाहिए। एक परिवीक्षाधीन व्यक्ति की स्थिति पर अंतिम न्यायालय द्वारा विचार किया गया था और अभिनिर्णित, था कि जहां किसी व्यक्ति को परिवीक्षा पर सरकारी सेवा में स्थायी पद पर नियुक्त किया जाता है, परिवीक्षा अवधि के दौरान या उसके अंत में उसकी सेवा की पर्यवसानि आम तौर पर नहीं होगी और यह अपने आप में एक दंड है क्योंकि इस प्रकार नियुक्त सरकारी कर्मचारी को किसी निजी नियोक्ता द्वारा परिवीक्षा पर नियुक्त नौकर की तुलना में इस तरह के पद पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं है। इस तरह की पदच्युति किसी सेवक के पद पर बने रहने के किसी भी अधिकार की जब्ती के रूप में कार्य नहीं करती है, क्योंकि उसके पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है। जाहिर है, इस तरह की पर्यवसानि सजा के माध्यम से पदच्युति, निष्कासन या पद में कमी नहीं हो सकती है।

(21) इसके बाद श्री कुलदीप सिंह का तर्क आता है कि नियमों का नियम 10(3) संविधान के अनुच्छेद 235 के अधिकारातीत है। उन्होंने अपने प्रस्ताव के लिए *हरियाणा राज्य बनाम इंद्र प्रकाश आनंद और अन्य* (2) पर निर्भरता जताया और तर्क दिया कि जो नियंत्रण उच्च न्यायालय में निहित है वह पूर्ण नियंत्रण केवल शक्ति के अधीन है। जिला न्यायाधीशों की पदच्युति, निष्कासन और पद में कमी सहित नियुक्तियों के मामलों में राज्यपाल। ऐसे मामलों में, संविधान में यह चिंतन है कि राज्य के प्रमुख के रूप में राज्यपाल उच्च न्यायालय की सिफारिश के अनुरूप कार्य करेंगे। उच्च न्यायालय में अधीनस्थ न्यायपालिका पर पूर्ण नियंत्रण निहित करने से यह होता है कि अपने अधिकार क्षेत्र के मामलों में उच्च न्यायालय का निर्णय राज्य को बाध्य

(1) A.I.R. 1958 S.C. 36.
(2) A.I.R. 1976 S.C. 1841.

करेगा। *इंद्र प्रकाश आनंद* के मामले (सुप्रा) में अभिनिर्णित, है कि यह निर्णय लेना उच्च न्यायालय का काम है कि क्या न्यायिक अधिकारी को 55 वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद 58 वर्ष की आयु तक सेवा में रखा जाना चाहिए और राज्यपाल या राज्य को इस संबंध में निर्णय लेने का अधिकार सरकार के पास है। उसी सादृश्य पर, अधिवक्ता ने कहा कि यह सवाल कि क्या एक परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी को सेवा में बनाए रखा जाना चाहिए या उसकी सेवाएं पर्यवसान कर दी जानी चाहिए, यह भी उच्च न्यायालय के नियंत्रण के दायरे में आता है क्योंकि ऐसा निर्णय संविधान के अनुच्छेद 311 के चार-कोनों के अंतर्गत नहीं आता है। *पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, आदि बनाम हरियाणा राज्य* (3) (एनएस राव का मामला) पर निर्भरता बनाते हुए , उन्होंने तर्क दिया कि चूंकि नियुक्त या पदोन्नत किए जाने वाले व्यक्तियों की पुष्टि की जाती है जिला न्यायाधीश उच्च न्यायालय के नियंत्रण में हैं और उस मामले के लिए नियमों के नियम 10(2) को संविधान के अनुच्छेद 235 के अधिकारातीत माना गया है, एक परिवीक्षाधीन व्यक्ति को स्थायी न करने और उसे दूर करने का उच्च न्यायालय का निर्णय सेवाएँ भी उच्च न्यायालय के नियंत्रण में हैं और इस कारण नियमावली के नियम 10(3) में यह प्रावधान कि राज्यपाल इस संबंध में आदेश पारित करेंगे, भी संविधान के अनुच्छेद 235 के विपरीत है। हालाँकि, हम पाते हैं कि *आंध्र प्रदेश के मुख्य न्यायाधीश, आदि बनाम एल.वी.ए. दीक्षितुलु और अन्य* (4) मामले में सर्वोच्च न्यायालय की टिप्पणियों को ध्यान में रखते हुए यह निवेदन सही नहीं है। यह भी एक न्यायिक अधिकारी की अनिवार्य सेवानिवृत्ति का मामला था और *इंद्र प्रकाश आनंद* के मामले (सुप्रा) पर निर्भरता ली गई थी। ऐसा अवधारित-

> "अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आदेश को अमान्य मानते हुए इस न्यायालय ने इस बात पर जोर दिया कि किसी न्यायिक अधिकारी को 55 वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद 58 वर्ष की आयु तक सेवा में बनाए रखा जाना चाहिए या नहीं, यह तय करने की शक्ति उच्च न्यायालय में निहित है, और अन्यथा रोक लगाने से 'न्यायपालिका की स्वतंत्रता गंभीर रूप से प्रभावित होगी और उच्च न्यायालय में निहित नियंत्रण छीन जाएगा।' हालाँकि, सेवानिवृत्ति का औपचारिक आदेश "उच्च न्यायालय, जो अनुच्छेद 235 का व्यापक आधार है" की सिफारिश पर कार्य करते हुए राज्यपाल द्वारा पारित किया जाता है।

(21-ए) इस प्रकार, इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह तय करने की शक्ति कि एक परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी को स्थायी किया जाना है या असंतोषजनक कार्य और आचरण के कारण उसकी सेवाएं पर्यवसान कर दी जानी हैं, उच्च न्यायालय में निहित है, लेकिन जब कोई निर्णय उच्च न्यायालय द्वारा ऐसे परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवाओं को पर्यवसान करने का निर्णय लिया जाता है और उसकी सेवाओं की पर्यवसानि का औपचारिक आदेश उच्च न्यायालय की

(3) A.I.R. 1975 S.C. 613.
(4) A.I.R. 1979 S.C. 193.

सिफारिश पर राज्यपाल द्वारा पारित किया जाता है। इसलिए, हम श्री कुलदीप सिंह से सहमत नहीं हैं कि नियमों का नियम 10(3) संविधान के अनुच्छेद 235 के अधिकारातीत है।

(22) दोनों पक्षों के विद्वक अधिवक्ता ने अपने-अपने तर्कों का समर्थन करने के लिए केस कानून की कैटेना पर निर्भरता किया, चाहे 21 मार्च, 1985 को हुई बैठक में याचिकाकर्ता और पत्र अनुबंध पी 26 की सेवाओं से छूट देने के लिए पूर्ण न्यायालय द्वारा लिया गया निर्णय हो। इसका पालन करना दंड के रूप में है या नियमों के नियम 10(3) के अनुसार केवल पर्यवसानि का आदेश है, इसलिए, हम कानून की स्थिति की जांच करना आवश्यक समझते हैं, जिस क्रम में यह आज का दिन विकसित हुआ है। जहां भी हमने पाया है कि अंतिम न्यायालय की किसी भी टिप्पणी का सीधे मामले पर असर पड़ता है, हमने उसी पर जोर दिया है। समय की दृष्टि से पहला मामला *परषोतम लाल ढींगरा बनाम भारत संघ* (5) है। उसमें यह अवधारित-

'जहां किसी व्यक्ति को परिवीक्षा पर सरकारी सेवा में स्थायी पद पर नियुक्त किया जाता है, तो परिवीक्षा अवधि के दौरान या उसके अंत में उसकी सेवा की पर्यवसानि, इस प्रकार नियुक्त सरकारी कर्मचारी के लिए आम तौर पर और अपने आप में एक सजा नहीं होगी, किसी निजी नियोक्ता द्वारा परिवीक्षा पर नियुक्त नौकर को उससे अधिक ऐसे पद पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं है। इस तरह की पर्यवसानि नौकर के पद पर बने रहने के किसी भी अधिकार की जब्ती के रूप में कार्य नहीं करती है, क्योंकि उसके पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है और स्पष्ट रूप से सजा के माध्यम से पदच्युति, निष्कासन या पद में कमी नहीं की जा सकती है.....

हालाँकि, यह इस बात का पालन नहीं करता है कि, ऊपर वर्णित तीन मामलों को छोड़कर, अन्य सभी मामलों में, एक सरकारी कर्मचारी की सेवा पर्यवसान कर दी जाएगी जिसके पास अपने पद पर कोई अधिकार नहीं है, उदाहरण के लिए, जहां उसे किसी पद पर नियुक्त किया गया था, अस्थायी या स्थायी या तो परिवीक्षा पर या स्थानापन्न आधार पर और अर्ध-स्थायी स्थिति प्राप्त नहीं की है, पर्यवसानि, किसी भी परिस्थिति में, सजा के माध्यम से पदच्युति या सेवा से निष्कासन नहीं हो सकती है।

संक्षेप में, यदि सेवा की पर्यवसानि अनुबंध या सेवा नियमों से प्राप्त अधिकार पर आधारित है, तो प्रथम दृष्टया, पर्यवसानि कोई सजा नहीं है और इसके कोई बुरे परिणाम नहीं होते हैं और इसलिए अनुच्छेद 311 लागू नहीं होता है। लेकिन भले ही सरकार के पास अनुबंध द्वारा या नियमों के तहत, पदच्युति या निष्कासन या पद में कमी की सजा देने के लिए निर्धारित प्रक्रिया से गुजरे बिना रोजगार पर्यवसान करने का अधिकार है, फिर भी, सरकार नौकर को दंडित करने का विकल्प चुन सकती है। और यदि कदाचार, लापरवाही, अक्षमता

(5) 1958 S.C. 36.

या अन्य अयोग्यता के आधार पर सेवा पर्यवसानि की मांग की जाती है, तो यह एक सजा है और अनुच्छेद 311 की आवश्यकताओं का अनुपालन किया जाना चाहिए।"

चंपकलाल चिमनलाल शाह बनाम भारत संघ (6) में, यह अवधारित है-

"अस्थायी नौकर भी स्थायी सरकारी सेवकों की तरह ही अनुच्छेद 311(2) के संरक्षण के हकदार हैं, अगर सरकार उनके खिलाफ तीन दंडों में से एक, यानी पदच्युति, निष्कासन या पद में कमी करके कार्रवाई करती है। लेकिन यह सुरक्षा केवल वहीं उपलब्ध है जहां सजा के माध्यम से पदच्युति, निष्कासन या पद में कमी का संकेत दिया जाना है, अन्यथा नहीं। केवल 'टर्मिनेट' या 'डिस्चाज' जैसी अभिव्यक्तियों का उपयोग निर्णायक नहीं है और ऐसी हानिरहित अभिव्यक्तियों के उपयोग के बावजूद अदालत को उल्लिखित दो परीक्षण लागू करने होंगे, अर्थात्- (1) क्या नौकर को पद का अधिकार था या पद, या (2) क्या उसके साथ बुरे परिणाम हुए हैं: और यदि दोनों में से कोई भी परीक्षण संतुष्ट है, तो यह माना जाना चाहिए कि नौकर को दंडित किया गया था। इसके अलावा, भले ही कदाचार, लापरवाही, अक्षमता या अन्य अयोग्यता मकसद या प्रेरक कारक हो सकती है जो सरकार को रोजगार अनुबंध या विशिष्ट सेवा नियम की शर्तों के तहत कार्रवाई करने के लिए प्रभावित करती है, फिर भी, यदि अधिकार मौजूद है, तो अनुबंध के तहत या नियम, सेवा पर्यवसान करने का सरकार के मन में चल रहा मकसद पूरी तरह से अप्रासंगिक है।

प्रारंभिक जांच आमतौर पर यह निर्धारित करने के लिए की जाती है कि औपचारिक विभागीय जांच के लिए प्रथम दृष्टया मामला बनता है या नहीं, और यह बहुत जरूरी है कि दोनों को भ्रमित न किया जाए। यहां तक कि जहां सरकार खराब काम या कदाचार की रिपोर्ट पर किसी अस्थायी कर्मचारी के खिलाफ दंड के रूप में कार्रवाई करने का इरादा नहीं रखती है, वहां आमतौर पर सरकार को संतुष्ट करने के लिए प्रारंभिक जांच की जाती है कि अस्थायी कर्मचारी की सेवाओं को पर्यवसान करने या वापस करने का कोई कारण है। सरकार के लिए अपने वास्तविक पद पर रहते हुए वह आमतौर पर बिना किसी कारण के इस तरह की कार्रवाई नहीं करते हैं। *इसलिए जब इस प्रकृति की प्रारंभिक जांच किसी अस्थायी कर्मचारी या अस्थायी रूप से उच्च पद पर आसीन सरकारी कर्मचारी के मामले में की जाती है, तो इसे नियमित विभागीय जांच (जो आमतौर पर ऐसी प्रारंभिक जांच के बाद होती है) के साथ भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए, जब सरकार निर्णय लेती है। आरोप तय करें और विभागीय जांच कराएं ताकि पहले से बताए गए तीन प्रमुख दंडों में से एक सरकारी कर्मचारी को दिया जा सके। इसलिए, जहां तक प्रारंभिक जांच का सवाल है, इसके अनुच्छेद 311(8) द्वारा शासित होने का कोई सवाल ही नहीं है, उस जांच के लिए वास्तव में सरकार की संतुष्टि के लिए यह तय करना है कि क्या दंडात्मक कार्रवाई की जानी चाहिए या अस्थायी सरकारी सेवक या अस्थायी रूप से उच्च पद धारण करने वाले सेवक*

के मामले में जिस पर उसका कोई अधिकार नहीं है, अनुबंध या नियमों के तहत कार्रवाई की जानी चाहिए। इस तरह की प्रारंभिक जांच एक पक्षीय भी की जा सकती है, हालांकि आमतौर पर निष्पक्षता के लिए, ऐसी जांच में भी संबंधित नौकर से स्पष्टीकरण लिया जाता है। ऐसा तभी होता है जब सरकार तीन प्रमुख दंडों में से एक को लागू करने के उद्देश्य से नियमित विभागीय जांच आयोजित करने का निर्णय लेती है, कि सरकारी कर्मचारी को अनुच्छेद 311 की सुरक्षा मिलती है और उस सुरक्षा में निहित सभी अधिकार मिलते हैं जैसा कि पहले ही ऊपर बताया गया है। इसीलिए वह मकसद या प्रेरक कारक जो सरकार को रोजगार अनुबंध या विशिष्ट सेवा नियम की शर्तों के तहत कार्रवाई करने के लिए प्रभावित करता है, अप्रासंगिक है।

मात्र तथ्य यह है कि एक अस्थायी नौकर के खिलाफ किसी प्रकार की प्रारंभिक जांच की जाती है और उस जांच के बाद अनुबंध या विशिष्ट सेवा नियम (उदाहरण के लिए इस मामले में आर. 5) के अनुसार सेवाएं प्रदान की जाती हैं, इसका मतलब यह नहीं होगा कि पदच्युति सेवा का उल्लंघन अनुच्छेद 311(2) के अर्थ के अंतर्गत पदच्युति या निष्कासन की सजा देने के समान है। क्या इस तरह की पर्यवसानि अनुच्छेद 311(2) के अर्थ के तहत पदच्युति या निष्कासन के समान होगी, यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और सरकार द्वारा की गई कार्रवाई पर निर्भर करेगा जो अंततः सेवा की पर्यवसानि की ओर ले जाती है।"

(23) तथ्यान्वेषी प्रारंभिक जांच का कानूनी महत्व और आयात *श्री ए.जे. बेंजामिन बनाम भारत संघ*, (7) में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष निर्णय के लिए आया, और यह अवधारित है: -

"लेकिन यहां तक कि जहां सरकार खराब काम या कदाचार की रिपोर्ट पर किसी अस्थायी कर्मचारी के खिलाफ दंड के माध्यम से कार्रवाई करने का इरादा नहीं रखती है, वहां आमतौर पर सरकार को संतुष्ट करने के लिए प्रारंभिक जांच की जाती है कि अस्थायी कर्मचारी की सेवाओं को पर्यवसान करने का कोई कारण है। जब किसी अस्थायी सरकारी कर्मचारी के मामले में इस प्रकार की प्रारंभिक जांच की जाती है, तो इसे पहले से बताए गए तीन प्रमुख दंडों में से एक देने के लिए सरकार द्वारा की गई नियमित विभागीय जांच के रूप में गलत नहीं माना जाना चाहिए। जहां तक प्रारंभिक जांच का सवाल है तो इसके अनुच्छेद द्वारा शासित होने का कोई सवाल ही नहीं है। प्रारंभिक जांच के लिए 311(2) वास्तव में सरकार की संतुष्टि के लिए है कि संबंधित अस्थायी सरकारी सेवक के मामले में दंडात्मक कार्रवाई की जानी चाहिए या अनुबंध या नियमों के तहत कार्रवाई की जानी चाहिए। ऐसी जांच में दंडात्मक कार्यवाही का कोई तत्व नहीं है; इस तरह की जांच करने का विचार अस्थायी सरकारी कर्मचारी को दंडित करना नहीं है, बल्कि यह तय करना है कि

(7) 1967 S.L.R. 185.

वह सेवा में बने रहने के योग्य है या नहीं। यदि ऐसी जांच के परिणामस्वरूप, प्राधिकारी इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अस्थायी सरकारी सेवक जारी रखने के लिए उपयुक्त नहीं है, तो वह अनुबंध या प्रासंगिक वैधानिक नियम द्वारा प्रदत्त शक्तियों के आधार पर सेवामुक्त करने का एक सरल आदेश पारित कर सकता है। ऐसे मामले में, अस्थायी सरकारी कर्मचारी के लिए यह खुला नहीं होगा कि वह अनुच्छेद 311 के संरक्षण को लागू कर सके, क्योंकि जिस जांच के कारण अंततः उसे पर्यवसान किया गया, वह केवल यह तय करने के उद्देश्य से आयोजित की गई थी कि अनुबंध के तहत शक्ति है या नहीं। प्रासंगिक वैधानिक नियम का प्रयोग किया जाना चाहिए और क्या अस्थायी सरकारी कर्मचारी को सेवामुक्त किया जाना चाहिए।

यहां तक कि ऐसे मामले में जहां एक अस्थायी सरकारी कर्मचारी के खिलाफ औपचारिक विभागीय जांच शुरू की जाती है, हम सोचते हैं, विभागीय जांच में आगे की कार्यवाही को छोड़ने और अस्थायी सरकारी कर्मचारी के खिलाफ सरलता से सेवामुक्त करने का आदेश देने का अधिकार प्राधिकरण के पास है। हम अपीलकर्ता के अधिवक्ता के इस तर्क को स्वीकार नहीं करते हैं कि एक बार औपचारिक विभागीय कार्यवाही शुरू हो जाने के बाद संबंधित प्राधिकारी के पास उन्हें हटाने और सेवा के अनुबंध या प्रासंगिक वैधानिक नियम के संदर्भ में अस्थायी सरकारी कर्मचारी को पर्यवसान करने का वैकल्पिक तरीका अपनाने का अधिकार नहीं है। यह संभव है कि प्राधिकारी का विचार हो कि व्यक्तिगत मामले में पदच्युति आदेश के कलंक से बचा जाना चाहिए। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, किसी अस्थायी सरकारी कर्मचारी की सेवाएँ पर्यवसान करने के लिए उपयुक्त प्राधिकारी के पास दो शक्तियाँ होती हैं। यह या तो अनुबंध की शर्तों या संबंधित नियम के तहत अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिए उसे पर्यवसान कर सकता है, और उस स्थिति में, अनुच्छेद 311 के प्रावधान लागू नहीं होंगे। वैकल्पिक रूप से, प्राधिकरण किसी अस्थायी नौकर को पर्यवसान करने और पदच्युति का आदेश देने की अपनी शक्ति के तहत भी कार्य कर सकता है, जिस स्थिति में अनुच्छेद 311 के प्रावधान लागू होंगे। इसलिए, यदि प्राधिकारी, किसी कारण से, औपचारिक विभागीय जांच को बंद करने का निर्णय लेता है, भले ही यह अस्थायी सरकारी कर्मचारी के खिलाफ शुरू की गई हो, तब भी प्राधिकारी के पास सेवा के अनुबंध या प्रासंगिक वैधानिक नियम के संदर्भ में सरलता से सेवामुक्ति का आदेश देने का अधिकार है। ऐसे मामलों में अस्थायी सरकारी सेवक की सेवाओं की पर्यवसानि का आदेश, जो रूप और सार रूप में अनुबंध की शर्तों या संबंधित नियम के तहत की गई उसकी सेवामुक्ति से अधिक नहीं है, को, कानूनन, उसकी पदच्युति नहीं माना जा सकता क्योंकि नियुक्ति प्राधिकारी ने इस उद्देश्य से कार्रवाई की कि उक्त नौकर कुछ कथित अक्षमता या कदाचार के कारण सेवा में बने रहने का हकदार नहीं है।"

(24) फिर, *आइ.एन. सक्सेना बनाम मध्य प्रदेश राज्य* (8) में सर्वोच्च न्यायालय ने इस सवाल की जांच की कि क्या अदालत को उन सरकारी कर्मचारियों पर लगे कलंक का पता लगाने के लिए फाइलों की जांच करने की आवश्यकता है जिनकी सेवाएं पर्यवसान कर दी गई हैं और यह अवधारित: -

"हम मामले के इस पहलू पर अपीलकर्ता द्वारा बताए गए तरीके से इस न्यायालय के फैसले को आगे बढ़ाने के लिए तैयार नहीं हैं। जहां किसी सरकारी कर्मचारी को अनिवार्य रूप से सेवानिवृत्त करने की आवश्यकता वाले आदेश में ऐसे स्पष्ट शब्द शामिल हैं जिनसे किसी कलंक का अनुमान लगाया जा सकता है, वह आदेश अनुच्छेद 311 के अर्थ के तहत हटाने के समान होगा। *लेकिन जहां आदेश में ही कोई स्पष्ट शब्द नहीं हैं जिससे कोई कलंक लगे सरकारी कर्मचारी पर, हम यह पता लगाने के लिए सचिवालय की फाइलों में नहीं जा सकते कि क्या इस तरह के शोध पर किसी प्रकार का कलंक लगाया जा सकता है।*

(25) *पंजाब राज्य और अन्य बनाम सुख राज बहादुर* (9) में, निम्नलिखित दिशानिर्देश, जो वर्तमान मामले पर असर डालते हैं, निर्धारित किए गए थे: -

"(1) एक अस्थायी नौकर या परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवाओं को उसके रोजगार के नियमों के तहत पर्यवसान किया जा सकता है और बिना किसी और चीज के ऐसी पर्यवसानि संविधान के अनुच्छेद 311 के कार्यान्वयन को आकर्षित नहीं करेगी।

(2) प्रत्येक मामले में सेवा पर्यवसानि के आदेश से पहले की परिस्थितियों या संबंधित परिस्थितियों की जांच की जानी चाहिए, इसके पीछे का मकसद महत्वहीन है।

(3) यदि आदेश लोक सेवक के किसी बुरे परिणाम के साथ उसके चरित्र या सत्यनिष्ठा पर आक्षेप लगाता है, तो इसे दंड के रूप में माना जाना चाहिए, चाहे वह केवल परिवीक्षाधीन या अस्थायी सेवक हो।

(4) केवल यह सुनिश्चित करने के लिए कि लोक सेवक को सेवा में बनाए रखा जाना चाहिए या नहीं, वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा शुरू की गई जांच से पहले अतिरिक्तिहार्य रूप में सेवा पर्यवसानि का आदेश संविधान अनुच्छेद 311 के कार्यान्वयन को आकर्षित नहीं करता है।

(5) यदि अनुच्छेद 311 द्वारा पूर्ण पैमाने पर विभागीय जांच की परिकल्पना की गई है, अर्थात एक जांच अधिकारी नियुक्त किया गया है, एक आरोप पत्र प्रस्तुत किया गया है, स्पष्टीकरण मांगा गया है और उस पर विचार किया गया है, उसके बाद किया गया सेवा पर्यवसानि का कोई भी आदेश उक्त लेख के संचालन को आकर्षित करेगा।"

(26) अंतिम न्यायालय ने डॉ. *टी.सी.एम. पिल्लई बनाम भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, गुइंर्ड, मद्रास* (10) में एक परिवीक्षाधीन व्यक्ति की स्थिति की जांच करते हुए अवधारित किया-

(8) 1967 S.L.R. 204.
(9) A.I.R. 1968 S.C. 1089.
(10) 1971 S.L.R. 679.

"यह अच्छी तरह से स्थापित है कि एक परिवीक्षाधीन या अस्थायी नौकर को पर्यवसान किया जा सकता है यदि यह पाया जाता है कि वह जिस पद पर है उसके लिए उपयुक्त नहीं है। यह अनुच्छेद 311(2) के प्रावधानों का अनुपालन किए बिना किया जा सकता है जब तक कि सजा के माध्यम से सेवाएं पर्यवसान न कर दी जाएं। उपयुक्तता केवल कार्य की उत्कृष्टता या दक्षता पर निर्भर नहीं करती। ऐसे कई कारक हैं जिन पर परिवीक्षा पर रहने वाले व्यक्ति की पुष्टि के लिए विचार किया जाता है। किसी कर्मचारी द्वारा प्रदर्शित एक विशेष रवैया या प्रवृत्ति पुष्टिकरण के लिए उसकी उपयुक्तता या उपयुक्तता का निर्णय करते समय पुष्टि करने वाले प्राधिकारी के निर्णय को अच्छी तरह से प्रभावित कर सकती है।

वर्तमान मामले में बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में कई प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध शिक्षाविद और शिक्षक शामिल थे। हालांकि प्रस्ताव में विभागाध्यक्ष और निदेशक की गोपनीय रिपोर्ट का जिक्र तो है लेकिन उसे रिकार्ड में नहीं रखा गया है। *यह मानते हुए भी कि अपीलकर्ता के शैक्षणिक कार्य के संबंध में वे रिपोर्टें अनुकूल थीं, बोर्ड अन्य मामलों पर विचार करने का हकदार था, जिनका उल्लेख पहले ही यह तय करने के उद्देश्य से किया जा चुका है कि क्या उसकी पुष्टि की जानी चाहिए या क्या उसे नियुक्ति पत्र की शर्तों के अनुसार एक माह का नोटिस दिया जाना चाहिए। बोर्ड ने बाद वाले पाठ्यक्रम को अपनाने का निर्णय लिया। किसी भी तर्क से यह नहीं कहा जा सकता कि अपीलकर्ता को दंडित किया गया था और दंडात्मक उपाय के रूप में उसकी सेवाएं पर्यवसान कर दी गई थीं।"*

(27) *समशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य और अन्य* (11) में प्रमुख निर्णय में निर्धारित सिद्धांतों को न्यायमूर्ति वी.आर. कृष्णा अय्यर द्वारा संक्षेपित किया गया था, इस प्रकार-

"1. परिवीक्षा पर किसी पद पर नियुक्ति से नियुक्त व्यक्ति को उस पद पर कोई अधिकार नहीं मिल जाता है और किसी लोक सेवक को पर्यवसान करने, या उसे सेवा से हटाने के लिए प्रासंगिक नियमों में निर्धारित कार्यवाही का सहारा लिए बिना, उसकी सेवाएं पर्यवसान की जा सकती हैं।

2. बिना किसी जांच के परिवीक्षा पर पद संभाल रहे किसी व्यक्ति के रोजगार की पर्यवसानि को उसे किसी पद के अधिकार से वंचित करना नहीं कहा जा सकता है और इसलिए, यह कोई सजा नहीं है।

3. लेकिन यदि नियोक्ता ऐसे व्यक्ति को बिना किसी जांच के पर्यवसान करने के बजाय उसके कथित कदाचार, या अक्षमता, या किसी ऐसे ही कारण से जांच कराने का विकल्प चुनता है, तो सेवा की पर्यवसानि सजा के माध्यम से होती है, क्योंकि यह उस पर कलंक लगाता

(11) A.L.R. 1974 S.C. 2192.

है। उसकी क्षमता और इस प्रकार उसके भविष्य के कैरियर को प्रभावित करती है। ऐसे में वह संविधान के अनुच्छेद 311(2) के संरक्षण का हकदार है।

4. — — — —

5. *लेकिन अगर नियोक्ता किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवाएं बिना जांच किए और उसे सेवा से हटाने के खिलाफ कारण दिखाने का उचित मौका दिए बिना ही पर्यवसान कर देता है, तो परिवीक्षाधीन सिविल सेवक के पास कार्रवाई का कोई कारण नहीं हो सकता है, भले ही इसके पीछे वास्तविक मकसद क्यों न हो। सेवा से निष्कासन का कारण यह हो सकता है कि उसके नियोक्ता ने उसे उसके कदाचार, या अकुशलता, या ऐसे ही किसी कारण के कारण उस पद के लिए अनुपयुक्त समझा हो, जिस पर वह अस्थायी रूप से काम कर रहा था।"*

(28) एक परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी के मामले पर विचार करते समय, *बिशन लाल गुप्ता बनाम हरियाणा राज्य और अन्य* (12) में इस न्यायालय की एक खण्ड नयायपीठ द्वारा इस प्रकार अवधारित है:-

"*यह बाध्यकारी उदाहरणों की एक लंबी श्रृंखला द्वारा स्थापित किया गया है कि जब एक परिवीक्षाधीन व्यक्ति के खिलाफ प्रासंगिक सेवा नियमों के तहत एक अनौपचारिक जांच केवल यह निर्धारित करने के लिए की जाती है कि उसे सेवा में जारी रखा जाना चाहिए या नहीं, और उसके खिलाफ पारित सेवामुक्ति के निर्दोष आदेश का पालन नहीं किया जाता है। बुरे परिणामों के कारण वह संविधान के अनुच्छेद 311(2) द्वारा परिकल्पित पूर्ण जांच का दावा नहीं कर सकता।*

राज्य न्यायिक सेवा के सदस्य को कभी-कभी वादियों की नाराजगी का सामना करना पड़ता है, जो कई मामलों में उनके खिलाफ बड़ी संख्या में शिकायतें उच्च न्यायालय में भेजते हैं। यदि उच्च न्यायालय ऐसी शिकायतों पर जिला एवं सत्र न्यायाधीशों से सत्यापन कराए बिना अंधाधुंध कार्रवाई करेगा, तो न्यायिक सेवा के सदस्यों के पास कार्यकाल की बहुत कम या कोई सुरक्षा नहीं बचेगी। यही कारण है कि उच्च न्यायालय आमतौर पर संबंधित न्यायिक अधिकारी का स्पष्टीकरण प्राप्त करने से पहले मामले की जांच करता है। कभी-कभी न्यायिक अधिकारियों पर भी भ्रष्टाचार के आरोप लगते रहते हैं। यह तय करने से पहले ऐसे आरोपों को सत्यापित करने के लिए प्रारंभिक जांच भी की जाती है कि क्या परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी के खिलाफ उसे सजा देने के लिए पूर्ण जांच की जानी चाहिए या उसे सेवा में जारी रखा जाना चाहिए या नहीं, यह तय करने के लिए उसका स्पष्टीकरण प्राप्त किया जाना चाहिए। बाद के मामलों में जारी किए गए नोटिस में आमतौर पर उल्लेख किया जाता है कि पंजाब सिविल सेवा (दंड और अपील) नियम, 1952 के नियम 9 के साथ पठित, हरियाणा सिविल सेवा (न्यायिक शाखा) नियम, 1951 के भाग डी में आने वाले

(12) A.I.R. 1977 Pb. And Hry. 7.

नियम 7(2) के तहत कार्रवाई करने के लिए स्पष्टीकरण मांगा जा रहा है। नियमों का ऐसा उल्लेख संबंधित न्यायिक अधिकारी को स्पष्ट संकेत देता है कि उस पर दंड लगाने की कोई कार्रवाई की परिकल्पना नहीं की गई थी।"

बिशन लाल गुप्ता के मामले (सुप्रा) में इस न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण की उच्चतम न्यायालय ने *बिशन लाल गुप्ता बनाम हरियाणा राज्य और अन्य*, (13) में पुष्टि की थी। उसमें *समशेर सिंह* के मामले (सुप्रा) में निर्धारित सिद्धांतों को इस प्रकार समझाया गया था-

"हमें लगता है कि ये टिप्पणियां उन मामलों को कवर करने के लिए होनी चाहिए, जहां भले ही परिवीक्षाधीन व्यक्ति को सेवा में बने रहने का कोई अधिकार नहीं है, फिर भी उसकी सेवाओं को पर्यवसान करने का आदेश उसके नाम पर कलंक लगाता है। इसका मतलब यह है कि संबंधित व्यक्ति को प्रतिष्ठा की भारी हानि उठानी होगी जो उसकी भविष्य की संभावनाओं को प्रभावित कर सकती है। उस मामले में न्याय के लिए पूर्ण सुनवाई की आवश्यकता होती है। *हालाँकि, यदि किसी मामले के विशेष तथ्यों और परिस्थितियों पर गौर करने के बाद, न्यायालय को पता चलता है, जैसा कि हमारे सामने मामले की स्थिति से प्रतीत होता है, कि की गई जांच और दिए गए नोटिस का उद्देश्य केवल वांछनीयता पर निष्कर्ष पर पहुंचना था। किसी व्यक्ति को सेवा में जारी रखने और अधिक गंभीर कार्रवाई पर विचार नहीं किया गया, इसका मतलब है कि कोई कलंक लगाने का इरादा नहीं था।* ऐसा हो सकता है कि, कुछ मामलों में, केवल प्रपत्र इसकी प्रकृति और परिवीक्षाधीन व्यक्ति पर इसके प्रभावों के आधार पर कार्यवाही की सटीक प्रकृति और परिणाम को इंगित नहीं करता है। कुछ हद तक अदालतें इस बात को ध्यान में रखने के लिए बाध्य हैं कि अकाट्य साक्ष्यों ने क्या खुलासा किया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि, भले ही किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की प्रतिष्ठा कुछ हद तक उस घटना से प्रभावित हुई हो, फिर भी यदि उन तथ्यों पर उसके द्वारा उचित रूप से विवाद नहीं किया जा सका, तो यह उसकी सेवाओं को पर्यवसान करने के लिए पर्याप्त आधार प्रदान करता है। ऐसे मामलों में कोई अन्याय नहीं होता है।"

(29) *प्रबंधक, सरकारी शाखा प्रेस और अन्य बनाम डीबी बेलियप्पा* (14) में, एक अस्थायी सरकारी कर्मचारी की सेवाएं बिना कोई कारण बताए पर्यवसान कर दी गईं, जबकि सेवा में उससे कनिष्ठ कुछ अन्य कर्मचारियों को रखा गया था। कर्मचारी को पहले उसकी ईमानदारी और निष्ठा पर सवाल उठाते हुए कारण बताओ नोटिस दिया गया था, लेकिन सरकार अंततः इस रुख पर कायम रही कि कारण बताओ नोटिस और सेवा पर्यवसानि के बीच कोई संबंध नहीं था।

(13) 1978 (1) S.L.R. 404.
(14) A.I.R. 1979 S.C. 429.

अभिनिर्णित, कि सेवा पर्यवसानि मनमाने ढंग से की गई थी न कि अनुपयुक्तता या अन्य कारण के आधार पर। आगे यह अवधारित कि कर्मचारी की ईमानदारी और निष्ठा के खिलाफ कारण बताओ नोटिस में उल्लिखित शिकायत के मद्देनजर शायद सरकार यह कहने के लिए स्वतंत्र थी कि कर्मचारी ने बाद वाले पर विश्वास खो दिया था और उसे उस पद पर बने रहें जो विश्वास और संवेदना पर आधारित था के लिए अनुपयुक्त माना था। लेकिन जब सरकार ऐसी किसी भी दलील पर ध्यान देने के बजाय, हठी हठ के साथ, इस स्थिति पर अड़ी रही कि कर्मचारी की सेवा बिना किसी कारण के पर्यवसान कर दी गई है, तो यह लगभग स्वीकार करने जैसा है कि रोजगार की शर्तों के तहत शक्ति नियोक्ता के लिए आरक्षित है का मनमाने ढंग से प्रयोग किया गया है। *चंपकलाल चिमनलाल शाह* के मामले (सुप्रा) का उल्लेख करने के बाद, यह अवधारित किया गया-

"*उपरोक्त विश्लेषण से जो सिद्धांत निकाला जा सकता है वह यह है कि यदि एक अस्थायी सरकारी कर्मचारी की सेवाएं उसकी सेवा की शर्तों के अनुसार असंतोषजनक आचरण या नौकरी के लिए उसकी अनुपयुक्तता और/या उसके काम के लिए अयोग्यता के आधार पर पर्यवसान कर दी जाती हैं। असंतोषजनक या ऐसे ही किसी कारण से जो उसे सेवा में बनाए रखे गए अन्य अस्थायी सेवकों से अलग श्रेणी में रखता हं, अनुच्छेद 16 की प्रयोज्यता का कोई सवाल ही नहीं है।* इसके विपरीत, यदि एक अस्थायी सरकारी सेवक की सेवाएं मनमाने ढंग से पर्यवसान कर दी जाती हैं, और न कि उसकी अनुपयुक्तता, असंतोषजनक आचरण या इस तरह के आधार पर जो उसे उसी सेवा में उसके कनिष्ठों से अलग वर्ग में डाल देगा, अनुचित भेदभाव का प्रश्न उठ सकता है, इस तथ्य के बावजूद कि उसकी सेवा पर्यवसान करने में, नियुक्ति प्राधिकारी था रोजगार की शर्तों के अनुसार कार्य करने का तात्पर्य। जहां अनुचित भेदभाव का आरोप विशिष्टता के साथ लगाया जाता है, या सेवा पर्यवसान करने का आदेश देने वाले प्राधिकारी पर अनुचित इरादे लगाए जाते हैं, यह प्राधिकारी का कर्तव्य है कि वह न्यायालय को कारण या मकसद का खुलासा करके उस आरोप को दूर कर दे। इसे विवादित कार्रवाई करने के लिए प्रेरित किया। सिवाय, शायद, अनुच्छेद 311(2), परंतुक (ग) के अंतर्गत आने वाले मामलों के अनुरूप, प्राधिकारी अदालत से इस तरह की जानकारी को बेकार बहाने से नहीं रोक सकता है, कि पारित आदेश पूरी तरह से प्रशासनिक है और न्यायिक नहीं है, पारित किया गया है सेवा की शर्तों को नियंत्रित करने वाले नियमों के तहत अपने प्रशासनिक विवेक का प्रयोग करते हुए। लार्ड डेनिंग ने "कारण देना" के बारे में *ब्रीन बनाम अमलगमेटेड इंजीनियरिंग संघ* (15) में कहा कि यह, "अच्छे प्रशासन के बुनियादी सिद्धांतों में से एक है" और, *खुदी राम बनाम पश्चिम बंगाल राज्य* (16) में इस न्यायालय के शब्दों को याद करें तो कानूनों की सरकार में "न्यायिक समीक्षा से मुक्त निरंकुश विवेक जैसा कुछ भी नहीं है"। कार्यपालिका, न्यायपालिका से कम

(15) (1971) 1 All. E.R. 1148.
(16) (1975)2 S.C.R. 832 at page 845=(A.I.R. 1975 S.C. 550, at page 558).

नहीं, निष्पक्ष रूप से कार्य करना एक सामान्य कर्तव्य के तहत है। वास्तव में, तर्क पर आधारित निष्पक्षता ही इसका सार है अनुच्छेद 14 और 16(1) में वर्णित आश्वासन।"

(30) *गुजरात स्टील्स ट्यूब्स लिमिटेड, आदि बनाम गुजरात स्टील ट्यूब्स मजदूर सभा और अन्य* (17) के मामले में, अंतिम न्यायालय ने एक बार फिर प्रश्न की जांच की और अवधारित किया-

"*यदि सेवा विच्छेद किया जाता है, तो पहली शर्त पूरी हो जाती है और यदि ऐसे विच्छेद का आधार या कारण नौकर का कदाचार है, तो दूसरी पूरी हो जाती है। यदि पर्यवसानि के आदेश के लिए आधार स्पष्ट रूप से भ्रष्ट या कलंकपूर्ण नहीं है या कदाचार में निहित नहीं है या बुरे आर्थिक प्रभाव से जुड़ा हुआ नहीं है, तो पदच्युति का अनुमान अस्वीकार कर दिया जाएगा और इसके विपरीत भी। ये सिद्धांत अनुच्छेद 311 के तहत और प्रबंधन के तहत श्रमिकों सहित अन्य मामलों में, स्वामी और सेवक न्यायशास्त्र की अनुशासनात्मक शाखा के माध्यम से चलते हैं।* मौखिक हेराफेरी से कानून को अपमानित नहीं किया जा सकता क्योंकि अदालत नकाब हटाएगी और असली चेहरे का पता लगाएगी। यह सच है कि ढींगरा के मामले (एआईआर 1958 एससी 36) के बाद से इस न्यायालय और उच्च न्यायालयों के फैसले कभी-कभी अस्पष्ट रहे हैं, अगर उद्धृत किया जाए तो पूरे तथ्य सामने आते हैं। शमशेर सिंह के मामले में (एआईआर 1974 एससी 2191) कानून की असंतोषजनक स्थिति पर हममें से एक, न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर, ने समर्थन के लिए डॉ. त्रिपाठी को उद्धृत करते हुए टिप्पणी की थी:

"कुछ मामलों में, मार्गदर्शन के नियम को 'मामले का सार' और आदेश की 'नींव' बताया गया है। 'उद्देश्य' कब 'नींव' में अतिक्रमण करता है। 'पदार्थ' को छूने के लिए हम रूप का भूत कब उठाते हैं? जब न्यायालय ऐसा कहता है। ये 'फ्रायडियन' सीमाएं कार्य-दिवस की दुनिया में स्पष्ट रूप से विफल हो जाती हैं और इस संदर्भ में डॉ. त्रिपाठी की टिप्पणियाँ बलहीन नहीं हैं। वह कहता है:

'जैसा कि पहले ही बताया गया है, ऐसी स्थिति में जहां पदच्युति का आदेश विभागीय जांच के कलंकित करने वाले परिणामों को बताए बिना केवल पदच्युति का आदेश माना जाता है, 'मामले के सार' की खोज मकसद (वास्तविक अप्रकाशित वस्तु) की खोज से अप्रमेद्य होगी आदेश की वर्तमान संदर्भ में मकसद (वास्तविक, लेकिन अप्रकाशित वस्तु) और रूप (स्पष्ट; या आधिकारिक तौर पर प्रकट वस्तु) के बीच इस संबंध की सराहना करने में विफलता के कारण शब्दों और वाक्यांशों की अवास्तविक परस्पर क्रिया हुई है जिसमें 'मकसद', जैसे

(17) A.I.R. 1980 S.C. 1896.

प्रतीक हैं। तथ्यों की दुनिया में सटीक स्थितियों या संस्थाओं को संप्रेषित किए बिना विभिन्न संयोजनों में पदार्थ का 'रूप' या 'प्रत्यक्ष' परेड।

न्यायशास्त्र की इस शाखा में, आवश्यकता पूर्ण न्याय तक पहुंचने की नहीं है, बल्कि एक स्पष्ट परीक्षण देने की है, जिसे प्रशासक और सिविल सेवक बिना सूक्ष्मता के समझ सकें और बिना किसी कठिनाई के लागू कर सकें। आख़िरकार, 'अनुपयुक्तता' और 'कदाचार' के बीच पतले 'विभाजन अपनी सीमाएं बांटते हैं'। और पिछले कुछ वर्षों में, इस न्यायालय के फैसलों में लहजा बदल गया है, सिद्धांत अलग-अलग हो गए हैं और भविष्यवाणी करना मुश्किल साबित हुआ है क्योंकि कानूनी प्रकाश और छाया का खेल चकरा देने वाला रहा है। विद्वक मुख्य न्यायाधीश ने अपने फैसले में, इस समस्या से निपटा और उस नियम की व्याख्या की, जो इस प्रश्न के निर्धारण को नियंत्रित करना चाहिए कि कब एक परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा की पर्यवसानि को सरलता से सेवामुक्त करना कहा जा सकता है और कब यह सज़ा के समान है कहा जा सकता है ताकि अनुच्छेद 311 का निषेध हो सके।"

मालिकों और नौकरों को पदच्युति के कानून के साथ लुका-छिपी खेलने की अनुमति नहीं दी जा सकती है और स्पष्ट और उचित मानदंडों को शब्दावली कवर-अप या मानसिक प्रक्रियाओं के लिए अपील द्वारा गलत दिशा में नहीं जाना चाहिए, बल्कि आदेश के वास्तविक कारण पर आधारित होना चाहिए, चाहे खुलासा हो या अघोषित। न्यायालय पर्यवसानि के औपचारिक आदेश से जुड़ी अन्य कार्यवाहियों या दस्तावेजों से पता लगाएगा कि पर्यवसानि का सही आधार क्या है। यदि, इस प्रकार, जांच की गई, तो आदेश में कारण या परिणाम में दंडात्मक स्वाद है, यह पदच्युति है। यदि वह इस परीक्षण में खरा उतरता है तो उसे दण्ड नहीं कहा जा सकता। इसे थोड़ा अलग ढंग से कहें तो यह पदच्युति इसलिए की गई क्योंकि स्वामी कदाचार से संतुष्ट है और परिणामस्वरूप दोषी नौकर की सेवा पर्यवसान करने की वांछनीयता से संतुष्ट है, यह एक पदच्युति है, भले ही उसके पास किसी निर्दोष आदेश के साथ सेवा पर्यवसान करने का कानून में अधिकार हो। अन्यथा, स्थायी आदेश क्या ऐसे मामले में आधार औपचारिक आदेश से भिन्न कार्यवाही में दर्ज किए गए हैं, इससे इसकी प्रकृति में कोई कमी नहीं आती है। तथ्य यह नहीं है कि अतिरिक्ताध से संतुष्ट होने के बाद, मालिक पूछताछ छोड़ देता है और पर्यवसान करने के लिए आगे बढ़ता है। एक कथित कदाचार और इसके तथा सेवा पर्यवसानि के बीच एक जीवंत संबंध को देखते हुए, निष्कर्ष पदच्युति है, भले ही सरल पर्यवसानि पर पूर्ण लाभ दिए गए हों और गैर-हानिकारक शब्दावली का उपयोग किया गया हो।

इसके विपरीत, भले ही कदाचार का संदेह हो, मालिक कह सकता है कि वह इसके बारे में चिंता नहीं करना चाहता है और अपने अतिरिक्ताध में नहीं जा सकता है, लेकिन ऐसा

महसूस कर सकता है कि वह उस आदमी को नहीं रखेगा जिससे वह खुश नहीं है। वह न तो जांच करना पसंद करेगा और न ही किसी संदिग्ध नौकर को जारी रखने का जोखिम लेना चाहेगा। तब यह पदच्युति नहीं ह,ै बल्कि सरलता से पर्यवसानि ह,ै यदि कारणों का कोई हानिकारक अभिलेख या उसके पूर्ण सेवांत लाभों पर दंडात्मक आर्थिक कटौती नहीं पाई जाती ह,ै क्योंकि, वास्तव म,ें कदाचार तब पदच्युति में प्रेरक कारक नहीं है। हमें यहां अन्य काल्पनिक स्थितियों का पीछा करने की जरूरत नहीं है।"

(31) *अनूप जयसवाल बनाम भारत सरकार और अन्य* (18) में इस प्रकार अवधारित है:

"इसलिए, अब यह अच्छी तरह से तय हो गया है कि जहां आदेश का रूप कदाचार के लिए पदच्युति के आदेश का महज एक मुखौटा है, यह हमेशा उस न्यायालय के लिए खुला है जिसके समक्ष आदेश को चुनौती दी गई है कि वह फॉर्म के पीछे जाए और आदेश का सही चरित्र का पता लगाए। यदि न्यायालय यह मानता है कि आदेश भले ही स्वरूप में केवल रोजगार का निर्धारण है, लेकिन वास्तव में यह सजा के आदेश के लिए एक आवरण है, तो केवल आदेश के स्वरूप के कारण, न्यायालय को कर्मचारी को कानून द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रभावी करने से वंचित नहीं किया जाएगा।"

(32) *इंद्रपाल गुप्ता बनाम प्रबंध समिति, मॉडल इंटर कॉलेज, थोरा* (19), एक भयावह मामला था जहां कदाचार के आरोप पर एक रिपोर्ट को गंभीर बताया गया था जो कर्मचारी की सेवाओं को पर्यवसान करने के आदेश का आधार थी। उस मामले के तथ्यों की जांच करते समय, इस प्रकार अवधारित है: -

"30 जून, 1969 के पत्र, जिसके द्वारा अपीलकर्ता की सेवाएँ पर्यवसान कर दी गई थीं, से यह पता चलता है कि 27 अप्रैल, 1969 के प्रबंध समिति के प्रस्ताव को उस पत्र के संलग्नक के रूप में मानकर इसका एक हिस्सा बनाया गया है। प्रस्ताव वास्तव में प्रबंधक की रिपोर्ट के संदर्भ से शुरू होता है, और कहता है कि रिपोर्ट में शामिल तथ्य संस्था के हित में 'गंभीर और नहीं' थे। यह आगे इस तथ्य को संदर्भित करता है कि अपीलकर्ता को उक्त रिपोर्ट में लगाए गए आरोपों पर अपना स्पष्टीकरण देने के लिए कहा गया था। उस रिपोर्ट में कहा गया है:-

यह भी स्पष्ट है कि चूक की गंभीरता पदच्युति को उचित ठहराने के लिए पर्याप्त है, लेकिन किसी भी शैक्षणिक संस्थान को यह चिंता नहीं उठानी चाहिए;

(18) A.I.R. 1984 S.C. 636.
(19) A.I.R. 1986 S.C. 1626.

उपरोक्त रिपोर्ट ही वास्तविक आधार थी जिस पर प्रबंध समिति का निर्णय आधारित था। यह एक ऐसा मामला है जहां जारी किया गया पदच्युति का आदेश कदाचार के आधार पर सेवा पर्यवसानि का जुर्माना लगाने वाले आदेश की आड़ मात्र है।"

(33) *जरनैल सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य और अन्य* (20) के हालिया फैसले में इस बिंदु पर कानून को एक बार फिर से संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है: -

"इससे पहले उल्लिखित निर्णय के एक पहलू पर स्थिति अब अच्छी तरह से तय हो गई है कि आदेश का मात्र रूप यह मानने के लिए पर्याप्त नहीं है कि पर्यवसानि का आदेश हानिरहित था और एक परिवीक्षाधीन या किसी की सेवाओं को पर्यवसान करने का आदेश तदर्थ नियुक्ति, संबंधित कर्मचारी पर कोई कलंक लगाए बिना, नियुक्ति की शर्तों के अनुसार सरलता से पर्यवसानि है। यह आदेश का सार है, यानी, उपस्थित परिस्थितियों के साथ-साथ आदेश का आधार भी है जिसे ध्यान में रखा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जब कर्मचारी द्वारा कदाचार के आधार पर पदच्युति के आदेश पर हमला करने का आरोप लगाया जाता है, हालांकि यह सहज शब्दों में छिपा हुआ है, तो यह पर्दा उठाने और वास्तविक परिस्थितियों के साथ-साथ आधार और आदेश की नींव की शिकायत को देखने के लिए न्यायालय पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में, न्यायालय, ऐसे मामले में, पर्दा उठाएगा और अच्छी तरह देखेगा कि आदेश कदाचार, अक्षमता के आधार पर दिया गया था या नहीं।

मौजूदा मामले में, हमने पहले ही राज्य प्रतिवादी की ओर से उनके कई हलफनामों में याचिकाकर्ताओं के खिलाफ गंभीर कदाचार का आरोप लगाते हुए और इन याचिकाकर्ताओं के सेवा अभिलेख में प्रतिकूल प्रविष्टियों का उल्लेख और उद्धृत किया है। जिसे विभागीय चयन समिति द्वारा सुनवाई का कोई अवसर दिए बिना और भारत के संविधान के अनुच्छेद 311 (2) में प्रदान की गई प्रक्रिया का पालन किए बिना, अपीलकर्ताओं की फिटनेस और उपयुक्तता पर विचार करते हुए उनके सेवाओ का अक्टूबर,1980 में बनाए गए सरकारी परिपत्र के अनुसार नियमितीकरण के उद्देश्य से विचार किया गया। इस प्रकार, अपीलकर्ताओं की सेवाओं को इस आधार पर पर्यवसान करने वाला आक्षेपित आदेश कि "पदों की अब आवश्यकता नहीं है" दंड के माध्यम से दिया गया है।

(34) इस प्रकार कानून की स्थिति स्पष्ट रूप से निर्धारित की गई है। आदेश का स्वरूप निर्णायक नहीं है। कोई आदेश सज़ा के रूप में है या पर्यवसानि का एक साधारण आदेश है, यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जहां गंभीर और गंभीर कदाचार के

---

(20) A.I.R. 1986 S.C. 1626.

आरोप एक आदेश की नींव हैं, हालांकि सहज रूप से पर्यवसानि के एक सरल आदेश के रूप में लिखा गया है, ऐसा आदेश दंड के माध्यम से होता है और, यदि सरकारी कर्मचारी को उचित अवसर दिए बिना पारित किया जाता है, तो यह संविधान के अनुच्छेद 311(2) का उल्लंघन है। हालाँकि, केवल तथ्य यह है कि किसी निर्णय पर पहुंचने से पहले कि सरकारी कर्मचारी सेवा में बनाए रखने के लिए उपयुक्त है या नहीं या उसकी सेवाओं को उसके रोजगार के नियमों और शर्तों के अनुसार पर्यवसान कर दिया जाना चाहिए, कुछ प्रारंभिक तथ्य-खोज जांच आयोजित की जाती है लेकिन कदाचार का कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकला है, ऐसे मामले में पदच्युति के आदेश को सजा के रूप में नहीं कहा जा सकता है। नियोक्ता के मन में यह संदेह कि कर्मचारी सेवा में बनाए रखने के लिए उपयुक्त नहीं है, पदच्युति के ऐसे आदेश के पीछे एक मकसद हो सकता है लेकिन इसे इसके लिए आधार नहीं कहा जा सकता है। ऐसा आदेश अप्राप्य है क्योंकि यह उस कर्मचारी पर कोई कलंक नहीं लगाता जिसकी सेवाएँ पर्यवसान कर दी गई हैं।

(35) अब वर्तमान मामले के तथ्यों की जांच करें और पता लगाएं कि क्या 21 मार्च, 1985 को पूर्ण न्यायालय की बैठक में लिया गया निर्णय और पत्र अनुबंध पी. 26 सजा के दायरे में हैं और संविधान के अनुच्छेद 311(2) के प्रावधानों को आकर्षित करते हैं । अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश के रूप में 2 मई, 1983 से 5 मई, 1984 तक हिसार में रहने की अवधि के संबंध में, याचिकाकर्ता के कार्य और आचरण को निःसंदेह निरीक्षण न्यायाधीश और पूर्ण न्यायालय द्वारा संतोषजनक माना गया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जिला बार एसोसिएशन, हिसार द्वारा उनके खिलाफ न्यायालय में उनके आचरण पर प्रतिकूल टिप्पणी करते हुए एक प्रस्ताव अनुबंध पी. 4 पारित किया गया था, जिस पर इस न्यायालय द्वारा कोई कार्रवाई नहीं की गई थी। इसी अवधि के दौरान 10 सितंबर, 1983 को सेशन केस राज्य बनाम राम, निवास में निर्णय सुनाया गया था, जिस पर न्यायमूर्ति ए.एस. बैंस ने प्रतिकूल टिप्पणी की थी - फैसले दिनांक 5 अप्रैल, 1984 अनुबंध पी. 7 के तहत 1983 की आपराधिक अपील संख्या 521-5बी में। याचिकाकर्ता का 7 मई, 1984 से नारनौल में अतिरिक्त जिला और सत्र न्यायाधीश के रूप में कार्यकाल, जब तक कि पूर्ण न्यायालय द्वारा निर्णय नहीं लिया गया, उसके खिलाफ शिकायतों की एक श्रृंखला सामने आई, जिसमें विस्तार से बताया गया है संदर्भ पहले दिया जा चुका है। इनमें से कुछ की जांच न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह ने की, जो उस समय नारनौल सेशन खण्ड के निरीक्षण न्यायाधीश थे। उन्होंने यह पता लगाने के लिए प्रारंभिक जांच की कि क्या शिकायतों में आगे की जांच की आवश्यकता है। जैसा कि पहले ही ऊपर उल्लेख किया गया है, उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि शिकायतों में आरोप निराधार नहीं थे और आगे की जांच की आवश्यकता थी। यह इस स्तर पर था कि पूर्ण न्यायालय को पूर्व रिपोर्ट ईएक्स. पी. 16 की जांच करनी थी। याचिकाकर्ता के अन्य सेवा अभिलेख के साथ और यह तय करने के लिए कि क्या उसके खिलाफ संविधान के अनुच्छेद 311 द्वारा परिकल्पित अनुशासनात्मक कार्यवाही शुरू की जानी चाहिए या परिवीक्षाधीन के रूप में उसकी सेवाओं को नियमों के नियम

10 (3) के तहत पर्यवसान किया जाना चाहिए। याचिकाकर्ता के अधिवक्ता ने तर्क दिया कि यदि संविधान के अनुच्छेद 311(2) के तहत याचिकाकर्ता के खिलाफ आरोपों की विभागीय जांच की गई थी,वह साबित कर देता कि उसके खिलाफ शिकायतें झूठी, तुच्छ और प्रेरित थीं। यह दलील इस सिद्ध तथ्य को नजरअंदाज कर देती है कि प्रतिवादी संख्या 1 ने याचिकाकर्ता के खिलाफ प्राप्त शिकायतों की सच्चाई पर जाने का निर्णय नहीं किया। 21 मार्च 1985 को हुई न्यायाधीशों की बैठक में इसकी जांच का कोई निर्णय नहीं लिया गया। इसके बजाय, परिवीक्षाधीन के रूप में याचिकाकर्ता के प्रदर्शन की समीक्षा की गई और उसकी सेवाओं से मुक्त करने का अंतिम निर्णय लिया गया। हम इस संभावना से इंकार नहीं करते हैं कि यदि याचिकाकर्ता के खिलाफ विस्तृत जांच की गई होती, तो वह अपने खिलाफ की गई शिकायतों को खारिज करने में सफल हो सकता था और बेदाग बाहर आ सकता था। हालाँकि, इस बात की समान संभावना है कि उनके खिलाफ एक या अधिक आरोपों के आधार पर उन्हें दोषी ठहराया गया हो। इसका परिणाम यह हो सकता है कि उसे कलंक के साथ सेवा से हटा दिया गया हो। इसलिए, पूर्ण न्यायालय को दो पाठ्यक्रमों के बीच चयन करना था। उनके विद्वक अधिवक्ता द्वारा भी इस बात पर कोई विवाद नहीं है कि 21 मार्च, 1985 का निर्णय उनके खिलाफ कदाचार के किसी भी निष्कर्ष पर आधारित नहीं है।

हालाँकि, उनका दावा है कि शिकायतें और रिपोर्ट अनुलग्नक पी. 16 उक्त निर्णय का आधार हैं। इस दृष्टिकोण को प्रचारित करने के लिए, उन्होंने रिपोर्ट के अनुलग्नक पी. 16 के अंतिम पैराग्राफ का उल्लेख किया है जिसमें न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह ने सुझाव दिया है कि मामले को न्यायाधीशों की बैठक में रखा जा सकता है ताकि यह तय किया जा सके कि इसमें क्या कार्रवाई की जानी चाहिए। मामला विशेषकर तब जब याचिकाकर्ता ने अभी तक परिवीक्षा की अवधि पूरी नहीं की है। उन्होंने आगे गोपनीय एजेंडे के नोटिस का हवाला दिया जिसमें सूची संख्या 4 है-

"रे: श्री आईसी जैन, अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश, नारनौल-

माननीय श्री न्यायमूर्ति सुरिंदर सिंह की रिपोर्ट, दिनांक 21 फरवरी, 1985 पर विचार।"

और रजिस्ट्रार द्वारा तैयार किया गया बैठक नोट जो रिपोर्ट अनुबंध पी. 16 के अंतिम पैराग्राफ को संदर्भित करता है और मामले को न्यायाधीशों की बैठक में विचार के लिए रखता है।

(36) हालांकि, हमारे विचार में, इन दस्तावेजों के संदर्भ से यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि 21 मार्च, 1985 को आयोजित न्यायाधीशों की बैठक में सूची संख्या 4 जो रिपोर्ट अनुलग्नक पी. 16 के साथ ऊपर उल्लिखित शिकायतें थी, पर विचार-विमर्श करते समय जिस एकमात्र मामले पर विचार किया गया था। बैठक में लिया गया निर्णय वास्तव में स्पष्ट है कि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि याचिकाकर्ता की दो साल की परिवीक्षा अवधि 2 मई, 1985 को पर्यवसान होने वाली थी, अतिरिक्त जिला और सत्र न्यायाधीश के रूप में उनके प्रदर्शन की समीक्षा की गई और

इस पर निर्णय लिया गया। आगे विचार करते हुए कि इस अवधि के दौरान उनका कार्य और आचरण संतोषजनक नहीं था और उनकी सेवाएं तुरंत पर्यवसान की जानी चाहिए। फलस्वरूप इस संबंध में आवश्यक आदेश जारी करने हेतु राज्य सरकार को अनुशंसा करने का निर्णय लिया गया। याचिकाकर्ता के न्यायालय से न्यायिक कार्य भी तत्काल वापस लेने का आदेश दिया गया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिकायतों और रिपोर्ट अनुलग्नक पी. 16 के अलावा, याचिकाकर्ता के अन्य प्रासंगिक अभिलेख को भी ध्यान में रखा गया और मामले पर अंतिम निर्णय लिया गया।

(37) याचिकाकर्ता के विद्वक अधिवक्ता का दूसरा तर्क यह है कि चूंकि याचिकाकर्ता को हिसार में तैनात किया गया था, उस अवधि के लिए निरीक्षण न्यायाधीश के रूप में जीसी मितल जे द्वारा कार्य और आचरण को संतोषजनक पाया गया था और उन्हें 'बी प्लस/गुड' दिया गया था। न्यायमूर्ति एस.पी. गोयल द्वारा नारनौल सेशन डिविजन के निरीक्षण न्यायाधीश के रूप में द्वारा नारनौल में काम करने की अवधि के दौरान ग्रेडिंग, 21 मार्च, 1985 को हुई बैठक में न्यायाधीश इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके कि उनका कार्य और आचरण इस दौरान संतोषजनक नहीं था। परिवीक्षा की अवधि और इस प्रकार नियमों के नियम 10(3) के तहत उसकी सेवाओं से मुक्त करने का निर्णय लिया गया है । यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि केवल यह तथ्य कि याचिकाकर्ता का न्यायिक काम संतोषजनक था, अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश के पद के लिए उसकी उपयुक्तता तय करने का मानदंड नहीं है। जैसा कि *डा. टीसीएम पिल्लइ* के मामले (सुप्रा) में अवधारित है, उपयुक्तता केवल कार्य में उत्कृष्टता और दक्षता पर निर्भर नहीं करती है। ऐसे कई कारक हैं जिन्हें परिवीक्षा पर रहने वाले व्यक्ति की पुष्टि के लिए ध्यान में रखा जाता है। किसी कर्मचारी द्वारा प्रदर्शित एक विशेष रवैया या प्रवृत्ति पुष्टिकरण के लिए उपयुक्तता का निर्णय करते समय पुष्टिकरण प्राधिकारी के निर्णय को अच्छी तरह से प्रभावित कर सकती है। हिसार और नारनौल के बार एसोसिएशन- दो स्थान जहां याचिकाकर्ता परिवीक्षा पर अतिरिक्त जिला और सत्र न्यायाधीश के रूप में तैनात रहे- ने अदालत में उनके आचरण और व्यवहार पर प्रतिकूल टिप्पणी करते हुए प्रस्ताव पारित किए। परिवीक्षा अवधि के दौरान उनके खिलाफ शिकायतों की झड़ी लग गई। प्रारंभिक जांच में ये शिकायतें तथ्यहीन नहीं पाई गईं और आगे की जांच प्रस्तावित की गई।

(38) याचिकाकर्ता के गुणों और कमियों पर विशेष रूप से टिप्पणी किए बिना, यह बताया जा सकता है कि एक अधिवक्ता जो परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी के रूप में सेवा में शामिल होता है, वह बुद्धिमान और मेहनती हो सकता है, फिर भी वह अपनी निष्पक्षता के बारे में विश्वास जताने में विफल हो सकता है। वह विद्वक हो सकता है फिर भी उसमें धैर्य, संयम और शिष्टाचार की कमी हो सकती है - ये कुछ ऐसे गुण हैं जो एक अच्छे न्यायाधीश के निर्माण के लिए आवश्यक हैं। वह ईमानदार हो सकता है, फिर भी न्यायालय में उसके कथन और आचरण से वादियों और अधिवक्तागों को यह आभास हो सकता है कि उन्हें न्याय नहीं मिल रहा है। हो सकता है कि वह अपने सामने विवादित मामले में अपने दृष्टिकोण को लेकर अधिक आश्वस्त हो और

अधिवक्ता की दलीलों के प्रति ग्रहणशील न हो। यह फिर से एक अच्छा न्यायाधीश बनने के लक्षण प्रदर्शित नहीं कर रहा है। इस प्रकार वह प्रतिकूल टिप्पणियाँ आमंत्रित कर सकता है और वादियों और अधिवक्ताों के बीच असंतोष फैला सकता है। यह तय करते समय इन सभी पहलुओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि क्या कोई व्यक्ति परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी के रूप में सेवा में बने रहने के लिए उपयुक्त है या नहीं और क्या उसे स्थायी किया जाना चाहिए या उसकी सेवाओं को पर्यवसान कर दिया जाना चाहिए। इसलिए, हम विद्वक अधिवक्ता की इस दलील से सहमत नहीं हैं कि याचिकाकर्ता के न्यायालय के निरीक्षण के परिणामस्वरूप निरीक्षण न्यायाधीशों की रिपोर्ट यह निर्धारित करने का एकमात्र कारक थी कि परिवीक्षा अवधि के दौरान उसका काम और आचरण संतोषजनक था या नहीं। इसी कारण से, हमारा विचार है कि केवल इस तथ्य से कि 21 मार्च, 1985 के निर्णय के बाद याचिकाकर्ता के न्यायालय के निरीक्षण पर निरीक्षण न्यायाधीश ने उसे 'बी प्लस/गुड' ग्रेडिंग दे दी, पूरी तरह से पर्यवसान नहीं हो जाएगी। अन्यथा असंतोषजनक आचरण जिसे पूर्ण न्यायालय ने माना। वास्तव में, जब याचिकाकर्ता के संबंध में निरीक्षण न्यायाधीश की रिपोर्ट पूर्ण न्यायालय के समक्ष आई तो उस पर विधिवत विचार किया गया और उसे 'सी/औसत से नीचे' ग्रेडिंग दी गई। विद्वक अधिवक्ता का यह तर्क कि पूर्ण न्यायालय द्वारा दी गई यह बाद की ग्रेडिंग 21 मार्च, 1985 को हुई बैठक में उसके द्वारा लिए गए पहले के निर्णय के कारण थी, हमारे विचार में, इसमें दम नहीं है। यह न्यायाधीशों का सर्वसम्मत निर्णय था और याचिकाकर्ता का यह आरोप नहीं है कि उनके मन में उसके प्रति कोई शत्रुता थी। इसलिए, अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि पूर्ण न्यायालय द्वारा योग्यता के आधार पर उन्हें 'सी/औसत से नीचे' ग्रेडिंग दी गई थी।

(39) याचिकाकर्ता के विद्वक अधिवक्ता ने *समशेर सिंह* के मामले (सुप्रा) पर बहुत अधिक निर्भरता ली। उनका तर्क है कि शिकायतों से संबंधित सामग्री और रिपोर्ट अनुलग्नक पी. 16 ने पूर्ण न्यायालय को उपरोक्त नियम 10(3) के तहत याचिकाकर्ता की सेवाओं से छूट देने का निर्णय लेने के लिए प्रेरित किया। ऐसा करते समय, उनका तर्क आगे बढ़ता है, याचिकाकर्ता को उचित अवसर दिया जाना चाहिए था और चूंकि ऐसा नहीं किया गया है, इसलिए विवादित कार्रवाई संविधान के अनुच्छेद 311(2) के विपरीत है। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर तय किया जाना है कि क्या पर्यवसानि का आदेश दंड के माध्यम से है या केवल सेवा के नियमों और शर्तों के अनुरूप है। *समशेर सिंह* के मामले (सुप्रा) में, दो परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारियों, अर्थात् ईश्वर चंद अग्रवाल और शमशेर सिंह की सेवाएं पर्यवसान कर दी गईं। उनकी सेवाएँ पर्यवसान करने के तथ्य और परिस्थितियाँ सर्वोच्च न्यायालय की भाषा में ही सबसे अच्छी तरह बताई जा सकती हैं। ईश्वर चंद अग्रवाल के मामले में, यह अभिनिर्णित किया गया था: -

> "उच्च न्यायालय ने उन कारणों से, जो बताए नहीं गए हैं, सरकार से जांच करने के लिए सतर्कता निदेशक को नियुक्त करने का अनुरोध किया। यह वास्तव में अजीब है कि जिस

उच्च न्यायालय का अधीनस्थ न्यायपालिका पर नियंत्रण था, उसने सरकार से सतर्कता विभाग के माध्यम से जांच कराने को कहा। अधीनस्थ न्यायपालिका के सदस्य न केवल उच्च न्यायालय के नियंत्रण में होते हैं बल्कि उच्च न्यायालय की देखरेख और संरक्षण में भी होते हैं। उच्च न्यायालय अपना नियंत्रण बनाए रखने के कर्तव्य का निर्वहन करने में विफल रहा। उच्च न्यायालय द्वारा सतर्कता निदेशक के माध्यम से जांच कराने का अनुरोध आत्म-त्याग का कार्य था। राज्य का यह तर्क कि उच्च न्यायालय चाहता था कि सरकार संतुष्ट हो, मामले को और भी बदतर बना देती है। राज्यपाल उच्च न्यायालय की सिफारिश पर कार्य करेंगे जो कि अनुच्छेद 235 का व्यापक आधार है। उच्च न्यायालय को अधिमानतः जिला न्यायाधीशों के माध्यम से जांच करानी चाहिए थी। अधीनस्थ न्यायपालिका के सदस्य न केवल अनुशासन के लिए बल्कि गरिमा के लिए भी उच्च न्यायालय की ओर देखते हैं। उच्च न्यायालय ने सरकार को सतर्कता निदेशक के माध्यम से जांच करने के लिए कहकर अनुच्छेद 235 की पूरी तरह से अवहेलना की।

सतर्कता निदेशक द्वारा नामित जांच अधिकारी ने अपीलकर्ता के पीछे गवाहों के बयान दर्ज किए। जांच कदाचार के आरोपों की सच्चाई का पता लगाने के लिए थी। न तो रिपोर्ट और न ही जांच अधिकारी द्वारा दर्ज किए गए बयान अपीलकर्ता तक पहुंचे। जांच अधिकारी ने कदाचार के आरोपों पर अपना निष्कर्ष दिया। उच्च न्यायालय ने जांच अधिकारी की रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया और 25 जून, 1969 को सरकार को लिखा कि रिपोर्ट के आलोक में अपीलकर्ता सेवा में बनाए रखने के लिए उपयुक्त व्यक्ति नहीं है। पर्यवसानि का आदेश रिपोर्ट की सिफारिशों के कारण था।

ईश्वर चंद अग्रवाल की सेवा पर्यवसानि का आदेश स्पष्ट रूप से मामले के तथ्यों एवं परिस्थितियों को देखते हुए दण्डात्मक है। उच्च न्यायालय ने न केवल स्वयं को अधीनस्थ न्यायपालिका पर सम्मानजनक नियंत्रण से वंचित कर दिया। आदेश का स्वरूप इस बारे में निर्णायक नहीं है कि आदेश सज़ा के रूप में है या नहीं। यहां तक कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में सेवा पर्यवसान करने का एक सहज शब्दों में दिया गया आदेश भी यह स्थापित कर सकता है कि कलंक से जुड़े गंभीर और गंभीर चरित्र के कदाचार के आरोपों की जांच अनुच्छेद 311 के प्रावधानों का उल्लंघन करते हुए की गई है । ऐसे में आदेश के स्वरूप की सरलता की कोई पवित्रता नहीं रहेगी. ईश्वर चंद अग्रवाल के मामले में ठीक यही हुआ है। पदच्युति का आदेश अवैध है और इसे रद्द किया जाना चाहिए।"

(40) यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि सजा और अपील नियमों का नियम 9 तब लागू था, जिसमें परिवीक्षाधीन व्यक्ति को सेवा के लिए उसकी अनुपयुक्तता के आधार से अवगत कराने के लिए नोटिस जारी करने पर विचार किया गया था। नोटिस में उन्हें इस पूछताछ में जुटाई गई

सामग्री के बारे में जानकारी नहीं दी गई। एक अन्य महत्वपूर्ण कारक जिसे पदच्युति के आदेश के लिए घातक माना गया वह यह था कि उसके खिलाफ उच्च न्यायालय के अलावा किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा जांच की गई थी। समशेर सिंह के मामले में अभिनिर्णित, कि पदच्युति का आदेश उनके समग्र कार्य और आचरण पर विचार करने के बजाय मामूली बातों के आधार पर पारित किया गया था। न्यायालय ने निम्नानुसार कहा:-

"ऐसा प्रतीत होता है, मानो तिल के टीले से पहाड़ बना दिया गया हो। अपीलकर्ता पर आरोप है कि उसने प्रेम सागर के प्रतिद्वंद्वी की मदद की। प्रेम सागर के खिलाफ मामले की सुनवाई 17 अप्रैल, 1965 को हुई। उसी दिन निर्णय सुनाया गया। डिक्री के निष्पादन के लिए अपीलकर्ता द्वारा उसी दिन आवेदन पर विचार किया गया। पृच्छा में अपीलकर्ता ने अपने हाथों से 'पेड़, कुआं, फसल और भूमि से जुड़े अन्य अधिकार' शब्द लिखे। यह सुधार अपीलकर्ता द्वारा इसलिए किया गया था ताकि पृच्छा वादपत्र और डिक्री के अनुरूप हो सके। पृच्छा को डिक्री के अनुरूप बनाने के लिए उसमें सुधार करने में कुछ भी गलत नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कार्यालय जल्दी छोड़ने की शिकायत और ओम प्रकाश, कृषि निरीक्षक की शिकायत के संबंध में अपीलकर्ता को वास्तव में दंडित किया गया था और उसे चेतावनी की सजा दी गई थी।

अपीलकर्ता ने नियम 9 के संरक्षण का दावा किया। नियम 9 प्राधिकार पर यह अनिवार्य बनाता है कि एक परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवाओं को विशिष्ट गलती पर या असंतोषजनक अभिलेख के कारण अनुपयुक्तता के आधार पर पर्यवसान किया जा सकता है।

इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से यह स्पष्ट है कि अपीलकर्ता शमशेर सिंह की पदच्युति का आदेश सजा में से एक था। अधिकारियों को अपीलकर्ता की उपयुक्तता का पता लगाना था। हालाँकि, वे उन मामलों से चिंतित थे जो वास्तव में मामूली बातें थीं। अपीलकर्ता ने प्रेम सागर के मामले में अभिलेख को सही ढंग से सही किया। अपीलकर्ता ने ऐसा अपने हाथ से किया। पर्यवसानि का आदेश नियम 9 का उल्लंघन है। इसलिए पर्यवसानि का आदेश रद्द किया जाता है।"

(41) हम अपने मन में बिल्कुल स्पष्ट हैं कि याचिकाकर्ता का मामला तथ्यों के आधार पर *समशेर सिंह* के मामले (सुप्रा) से अलग है।

(42) एक अन्य मामला जिस पर याचिकाकर्ता के विद्वक अधिवक्ता ने अपने तर्क के संबंध में निर्भरता जताया है, वह *इंदिरा पाल गुप्ता* के मामले (सुप्रा) में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय है। यह मामला फिर से, हमारे विचार में, स्पष्ट रूप से अलग है। प्रबंधक की रिपोर्ट जिसके आधार पर उस कॉलेज की प्रबंध समिति ने, जहां इंद्रपाल प्राचार्य थे, एक प्रस्ताव पारित किया,

जिसका आशय निम्नलिखित था:-

"उपरोक्त से यह स्पष्ट होगा कि प्राचार्य का रहना संस्था के हित में नहीं होगा। यह भी स्पष्ट है कि खामियों की गंभीरता पदच्युति को उचित ठहराने के लिए पर्याप्त है लेकिन किसी भी शैक्षणिक संस्थान को यह सारी परेशानी नहीं उठानी चाहिए। ऐसे में मेरा सुझाव यह है कि उनकी सेवाएं पर्यवसान करने से हमारा उद्देश्य पूरा हो जाएगा। फिर हम क्यों किसी झंझट में पड़ें। इसके लिए यानी उसकी परिवीक्षा अवधि पर्यवसान करने के लिए भी डीआईओएस की मंजूरी जरूरी होगी। तदनुसार इस मामले में कोई भी देरी हमारे हितों के लिए हानिकारक भी हो सकती है।

तदनुसार मेरा सुझाव है कि कोई गंभीर कार्रवाई करने के बजाय, श्री इंद्र पाल गुप्ता की परिवीक्षा अवधि पर्यवसान होने की प्रतीक्षा किए बिना पर्यवसान कर दी जाए।

(43) न्यायालय ने पाया कि पत्र दिनांक 30 जून, 1969 द्वारा इन्द्रपाल गुप्ता की सेवाएँ पर्यवसान की गयीं थीं, उसे उक्त पत्र के अनुलग्नक के रूप में मानकर 27 अप्रैल, 1969 के प्रबंध समिति के प्रस्ताव को भी इसका हिस्सा बना दिया गया। इसके अलावा प्रस्ताव प्रबंधक की रिपोर्ट के संदर्भ से शुरू हुआ और कहा गया कि रिपोर्ट में शामिल तथ्य "गंभीर" और "संस्था के हित में नहीं" थे। इसमें आगे इस तथ्य का हवाला दिया गया कि इंद्र पाल गुप्ता को उक्त रिपोर्ट में लगाए गए आरोपों पर स्पष्टीकरण देने के लिए कहा गया था। रिपोर्ट में कहा गया है, "यह भी स्पष्ट है कि खामियों की गंभीरता पदच्युति को उचित ठहराने के लिए पर्याप्त है लेकिन किसी भी शैक्षणिक संस्थान को यह चिंता नहीं उठानी चाहिए।" न्यायालय ने इस प्रकार माना कि उपरोक्त रिपोर्ट ही वास्तविक आधार थी जिस पर प्रबंध समिति का निर्णय आधारित था। इस प्रकार, पदच्युति का आदेश कदाचार के आधार पर सेवा पर्यवसानि का जुर्माना लगाने वाले आदेश का मुखौटा था। *इंद्रपाल गुप्ता* के मामले (सुप्रा) में जिन तत्वों का विस्तृत संदर्भ दिया गया है, उनमें से कोई भी मौजूदा मामले में मौजूद नहीं है।

(44) केवल यह तथ्य कि नियमों के नियम 10(3) के अनुसार याचिकाकर्ता की पदच्युति के आदेश से पहले शिकायतें या प्रारंभिक जांच हुई थी, इसे दंडात्मक नहीं बनाता है। *बिशन लाल गुप्ता* का मामला (सुप्रा) शिकायतों और उनकी प्रारंभिक जांच से पहले था। इसी तरह, *राम गोपाल चतुर्वेदी बनाम मध्य प्रदेश राज्य* (21) में, परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी के खिलाफ उनके चरित्र पर शिकायतें थीं और मुख्य न्यायाधीश ने उनके तैनाती के स्थान पर अपने दौरे पर उनसे पूछताछ

(21) A.I.R. 1970 S.C. 158.

की। अपीलकर्ता को कोई आरोप पत्र नहीं दिया गया और न ही उसके खिलाफ कोई विभागीय जांच की गई। उच्च न्यायालय ने प्रस्ताव पारित किया कि राज्य सरकार उनकी सेवाएं पर्यवसान कर दे। इस संदर्भ को ध्यान में रखते हुए, उसमें लागू आदेश पारित किया गया था। प्रथम दृष्टया आदेश ने अधिकारी के चरित्र या निष्ठा पर कोई कलंक नहीं लगाया, न ही उस पर कोई बुरा परिणाम डाला। अंतिम न्यायालय ने माना कि यह महत्वहीन है कि आदेश से पहले उसके आचरण की अनौपचारिक जांच की गई थी ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि उसे सेवा में बनाए रखा जाना चाहिए या नहीं। *सुख राज* के मामले (सुप्रा) पर निर्भरता बनाते हुए, अभिनिर्णित, कि केवल यह सुनिश्चित करने के लिए कि लोक सेवक को सेवा में बनाए रखा जाना चाहिए या नहीं, वरिष्ठ प्राधिकारी द्वारा शुरू की गई जांच से पहले असाधारण रूप में सेवा पर्यवसानि का आदेश संविधान के अनुच्छेद 311 के संचालन को आकर्षित नहीं करता है।इसलिए, हम इस तर्क को अस्वीकार करते हैं।

(45) याचिकाकर्ता के विद्वक अधिवक्ता द्वारा यह स्वीकार किया गया कि अब कोई वैधानिक आवश्यकता नहीं है जैसा कि पहले पंजाब सिविल सेवा (दंड और अपील) नियम, 1959 के नियम 9 में एक परिवीक्षाधीन व्यक्ति को कारण बताने का अवसर प्रदान करने के लिए निर्धारित किया गया था। सक्षम प्राधिकारी द्वारा उनकी नियुक्ति की प्रस्तावित पर्यवसानि। लेकिन उन्होंने साथ ही कहा कि याचिकाकर्ता ऑडी अल्टरम पार्टम के सिद्धांत पर 21 जनवरी, 1985 के फैसले से पहले सुनवाई का अवसर पाने का हकदार है, जो प्राकृतिक न्याय के मूलभूत नियमों में से एक है। इस प्रस्ताव को प्रचारित करने के लिए, उन्होंने *नरेंद्र सिंह राव बनाम हरियाणा राज्य आदि* (22) में अपने सहमति निर्णय में न्यायमूर्ति बीआर तुली की निम्नलिखित टिप्पणियों पर निर्भरता ली।

> "भले ही सजा और अपील नियमों का नियम 9 इस आधार पर लागू नहीं होता कि कार्यवाही प्रशासनिक थी और चरित्र में अनुशासनात्मक नहीं थी, प्राकृतिक न्याय के प्रसिद्ध नियम ऑडी अल्टरम पार्टम के लिए आवश्यक है कि याचिकाकर्ता को स्पष्टीकरण देने के लिए एक नोटिस दिया जाना चाहिए। उसके खिलाफ क्या पाया गया था और जिसने उसे राज्य की सुपीरियर न्यायिक सेवा में बनाए रखने के लिए अनुपयुक्त बना दिया था।"

(46) दूसरी ओर, प्रतिवादियों के विद्वक अधिवक्ता ने तर्क दिया कि *नरेंद्र सिंह राव* के मामले (सुप्रा) में उपरोक्त टिप्पणियाँ आज्ञाकारी हैं क्योंकि निर्णय के पहले भाग में अभिनिर्णित, था कि सेवाओं से छूट देने का आदेश परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी ऊपर उल्लिखित नियम 9 के प्रावधानों का अनुपालन न करने के लिए बुरा था। उन्होंने आगे कहा कि उपरोक्त पूर्ण पीठ के फैसले की पुष्टि करते हुए, सर्वोच्च न्यायालय ने इसे यह कहते हुए बरकरार रखा था कि नियम 9

---

(22) I.L.R. (1974) 1 Pb. And Hry. 121.

का अनुपालन न करने के कारण विवादित आदेश टिकाऊ नहीं था। इस बिंदु पर विस्तार से चर्चा करना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह राम गोपाल चतुर्वेदी के मामले (सुप्रा) में अंतिम न्यायालय के फैसले से निष्कर्ष निकाला गया है। इस प्रकार अवधारित है-

"इसके बाद यह तर्क दिया गया कि विवादित आदेश प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन था और इस संबंध में इस न्यायालय के फैसले *उड़ीसा राज्य बनाम डा. मिस बीनापानी देई* (23) और रिज बनाम बाल्डविन (24) पर निर्भरता ली गई थी। *बीनापार्ना* के मामले में, अपीलकर्ता उड़ीसा चिकित्सा सेवा में एक सहायक सर्जन था। राज्य सरकार ने सेवा में शामिल होने पर उनके द्वारा दी गई जन्मतिथि को स्वीकार कर लिया। बाद में सरकार ने एकपक्षीय जांच के आधार पर उनकी जन्मतिथि दोबारा तय की और उन्हें अनिवार्य सेवानिवृत्ति देने का आदेश पारित किया। न्यायालय ने माना कि उसका आदेश अमान्य था और रद्द किये जाने योग्य था। अपीलकर्ता को चिकित्सा सेवा में एक अधिकारी के पद पर बने रहने का अधिकार था। अनुच्छेद 309 के तहत बनाए गए नियमों के अनुसार, अच्छे और पर्याप्त कारणों को छोड़कर उन्हें सेवानिवृत्ति से पहले पद से नहीं हटाया जा सकता था। एक पक्षीय आदेश उसके निहित अधिकारों का अपमान था और उसे सुनवाई का अवसर दिए बिना पारित नहीं किया जा सकता था। *वर्तमान मामले में, आक्षेपित आदेश अपीलकर्ता को किसी निहित अधिकार से वंचित नहीं करता है। अपीलकर्ता एक अस्थायी सरकारी कर्मचारी था और उसे पद पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं था। राज्य सरकार को प्रस्तावित कार्रवाई के खिलाफ कारण बताने के लिए अपीलकर्ता को कोई नोटिस जारी किए बिना नियम 12 के तहत उसकी सेवाएं पर्यवसान करने का अधिकार था।* 1964 एसी 40 (सुप्रा) में हाउस ऑफ लॉर्ड्स ने बहुमत से माना कि कर्तव्य की उपेक्षा के आधार पर एक मुख्य कांस्टेबल को उसके खिलाफ लगाए गए आरोप की जानकारी दिए बिना और उसे सुनवाई का अवसर दिए बिना पर्यवसान करने का आदेश दिया गया था जो प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन और रद्द किये जाने योग्य था। नगर निगम अधिनियम, 1882 की धारा 191 में प्रावधान है कि निगरानी समिति किसी भी समय किसी भी नगर कांस्टेबल को निलंबित और पर्यवसान कर सकती है, जिसे वे अपने कर्तव्य के निर्वहन में लापरवाह मानते हैं या अन्यथा इसके लिए अयोग्य मानते हैं। मुख्य सिपाही को अपना पद धारण करने का अधिकार था और उसे इस अधिकार से वंचित करने से पहले निगरानी समिति को प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के अनुरूप होना आवश्यक था। पदच्युति का आदेश उनके पद की हानि

(23) A.I.R. 1967 S.C. 1269.
(24) 1964 A.C. 40.

के साथ आया और इसमें किए गए अतिरिक्ताधों के लिए सजा का एक तत्व शामिल था। *वर्तमान मामले में, आक्षेपित आदेश में सज़ा का कोई तत्व शामिल नहीं था और न ही इसने अपीलकर्ता को किसी पद के निहित अधिकार से वंचित किया।*" (बल दिया गया)

उपरोक्त कथन को ध्यान में रखते हुए, इस विवाद में शायद ही कोई बल है।

(47) याचिकाकर्ता के विद्वक अधिवक्ता का अगला तर्क यह है कि आक्षेपित निर्णय और पत्र अनुलग्नक पी. 26 के साथ-साथ याचिकाकर्ता की परिवीक्षा अवधि बढ़ाने के सरकार के सुझाव से असहमत पूर्ण न्यायालय के बाद के निर्णय भी खराब हैं, क्योंकि यह बोलने वाले आदेश नहीं हैं। इन निर्णयों पर पहुंचने का कोई कारण दर्ज नहीं किया गया है। इस प्रस्ताव के लिए, उन्होंने *द सीमेंस इंजीनियरिंग एंड मैन्युफैक्चरिंग कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड बनाम द यूनियन ऑफ इंडिया और अन्य* (25), *बलदेव राज गुलियानी बनाम पंजाब एंड हरियाणा उच्च न्यायलय और अन्य* (26) और मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ का निर्णय *समारू दास बंजारे बनाम मध्य प्रदेश राज्य और अन्य* (27) पर निर्भरता बनाई है। हम यह तर्क स्वीकार करने में असमर्थ हैं, सबसे पहले, इस कारण से कि नियमों का नियम 10(3) स्पष्ट रूप से यह प्रावधान है कि यदि सीधी भर्ती वाले व्यक्ति का कार्य और आचरण राज्यपाल की राय में संतोषजनक नहीं रहा है, तो वह उच्च न्यायालय के परामर्श से, परिवीक्षा अवधि के दौरान या परिवीक्षा की विस्तारित अवधि, यदि कोई हो, के दौरान, और बिना कोई भी कारण बताकर उसकी सेवाओं से छूट दे दी जाए। दूसरा, विद्वक अधिवक्ता ने अपने समर्थन में जिन प्राधिकारियों का उल्लेख किया है, वे सभी तथ्यों के आधार पर स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। *सीमेंस इंजीनियरिंग एंड मैन्युफैक्चरिंग कंपनी* के मामले (सुप्रा) में अंतर शुल्क की मांग वाले नोटिस से उत्पन्न सहायक कलेक्टर के समक्ष की कार्यवाही अर्ध-न्यायिक कार्यवाही थी और इसी तरह कलेक्टर और भारत सरकार के समक्ष पुनरीक्षण की कार्यवाही भी थी। इस संदर्भ में अभिनिर्णित, कि जहां एक प्राधिकारी अर्ध-न्यायिक कार्य के अभ्यास में एक आदेश देता है, उसे अपने आदेश के समर्थन में अपने कारणों को दर्ज करना होगा। कलेक्टर ने अपने आदेश में अपीलकर्ताओं द्वारा दिनांक 8 दिसंबर, 1961 को दिए गए अपने अभ्यावेदन में दिए गए तर्कों पर ध्यान नहीं दिया था, जिन्हें 4 जून, 1965 के बाद के अभ्यावेदन में दोहराया गया था। यह अवधारित कि कलेक्टर का आदेश एक होना चाहिए था। थोड़ा अधिक स्पष्ट और सुस्पष्ट ताकि यह आश्वासन दिया जा सके कि अपीलकर्ताओं के मामले पर उसके द्वारा ठीक से विचार किया गया था। *बलदेव राज गुलियानी* का मामला (सुप्रा) भी एक अलग स्तर पर था। उच्च न्यायालय ने अनुशासनात्मक नियंत्रण का प्रयोग करते हुए अधिकारी को घोर कदाचार का दोषी पाया और न्यायिक सेवा में बनाए रखने के लिए अयोग्य पाया और राज्यपाल से उसे हटाने की सिफारिश की। अंतिम न्यायालय ने कहा कि न्यायिक अधिकारियों के संबंध में उच्च

(25) A.I.R. 1976 S.C. 1785.
(26) A.I.R. 1976 S.C. 2490.
(27) 1985 (2) S.L.R. 520.

न्यायालय की सिफारिश हमेशा राज्यपाल द्वारा स्वीकार की जानी चाहिए। जब भी किसी असाधारण मामले में, जो अपने आप में दुर्लभ है, राज्यपाल को कुछ कारणों से लगता है कि वह उच्च न्यायालय की सिफारिशों को स्वीकार करने में असमर्थ हैं, तो इन कारणों को उच्च न्यायालय को सूचित किया जाएगा ताकि वह मामले पर पुनर्विचार कर सके। फिर, *समारू दास बंजारे* के मामले में (सुप्रा) मध्य प्रदेश सरकारी सेवक (अस्थायी और अर्ध-स्थायी सेवा) नियम, 1960 का नियम 3-ए, जो विचार के लिए आया था, पढ़ता है-

"सरकारी कर्मचारी जिसके संबंध में नियम 3 के खंड (ii) के तहत कोई घोषणा जारी नहीं की गई है, लेकिन वह किसी सेवा या पद पर लगातार पांच साल तक अस्थायी सेवा में रहा है, जिसके संबंध में ऐसी घोषणा की जा सकती है। अर्ध-स्थायी सेवा में, जब तक कि लिखित रूप में दर्ज किए जाने वाले कारणों के लिए नियुक्ति प्राधिकारी अन्यथा आदेश न दे।"

इस नियम के संदर्भ में, अभिनिर्णित, कि नियम एक महत्वपूर्ण वाक्यांशविज्ञान का उपयोग करता है जब यह कहता है कि घोषणा के अभाव में सरकारी कर्मचारी को अर्ध-स्थायी सेवा में माना जाएगा जब तक कि नियुक्ति के लिए लिखित में कारण दर्ज न किए जाएं जबतक प्राधिकरण अन्यथा आदेश देता है। इस नियम में "कारणों को लिखित रूप में दर्ज किया जाना चाहिए" और "अन्यथा आदेश" शब्द बहुत महत्वपूर्ण हैं। "कारणों और निष्कर्षों" के बीच अंतर भी सामने लाया गया और मामले के तथ्यों में अभिनिर्णित, कि इस निष्कर्ष से कोई बच नहीं सकता कि उच्च न्यायालय के प्रस्ताव में जो दर्ज किया गया था वह अर्थ के भीतर "कारण" नहीं था। नियम 3-ए ऊपर उल्लिखित है लेकिन यह उच्च न्यायालय का 'निष्कर्ष' है। इसलिए विद्वक अधिवक्ता का यह तर्क निराधार है और खारिज किया जाता है।

(48) विद्वक अधिवक्ता की अगली दलील यह है कि चूंकि राज्यपाल को उच्च न्यायालय के परामर्श से आदेश पारित करना था, इसलिए यह प्रतिवादी संख्या 1 पर निर्भर था कि वह राज्यपाल को उन कारणों के साथ अभिलेख पर सभी सामग्री प्रदान करे, जिसने उसे प्रेरित किया। याचिकाकर्ता की सेवाएं पर्यवसान करने की संस्तुति करना। इस प्रस्ताव के लिए *एसपी गुप्ता और अन्य बनाम भारत के राष्ट्रपति और अन्य* (28) पर निर्भरता बनाई गई है। हमारे विचार में, कानून विद्वक अधिवक्ता की दलील के विपरीत है। नियमों के नियम 10(3) के संदर्भ में, राज्यपाल को उच्च न्यायालय के परामर्श से आदेश पारित करना है। इस प्रकार, उच्च न्यायालय परामर्शदाता है। *एसपी गुप्ता* के मामले (सुप्रा) में, अभिनिर्णित था कि परामर्श देने वाले के पास मौजूद सभी सामग्री

(28) A.I.R. 1982 S.C. 149.

को परामर्शदाता के समक्ष बिना शर्त रखा जाना चाहिए और इसके अलावा जानकारी प्राप्त करने, अन्य कदम उठाने और शपथ पत्र और सार्थक सलाह देने के लिए तैयार होने का उचित अवसर परामर्शदाता को दिया जाना चाहिए। यह कानून की इस स्थिति के संदर्भ में है कि *बलदेव राज गुलियानी* के मामले (सुप्रा) में, अभिनिर्णित था कि जहां भी एक असाधारण मामले में, अपने आप में दुर्लभ, राज्यपाल को कुछ कारणों से लगता है कि वह उच्च न्यायालय की सिफारिश को स्वीकार करने में असमर्थ हैं उच्च न्यायालय को कारण बताए जाएंगे ताकि वह मामले पर पुनर्विचार कर सके। इसलिए, हमारा दृढ़ विचार है कि प्रतिवादी संख्या 1 के लिए परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारी के रूप में याचिकाकर्ता की सेवाओं को पर्यवसान करने की राज्यपाल को सिफारिश करने के अपने निर्णय के लिए कोई भी कारण दर्ज करना आवश्यक नहीं था।

(49) याचिकाकर्ता के विद्वक अधिवक्ता ने तब तीन न्यायिक अधिकारियों, सर्वश्री एचएस गिल, केके डोडा और एमपी मेहदीरत्ता के उदाहरणों का हवाला दिया और कहा कि इन न्यायिक अधिकारियों का काम और आचरण दो साल की प्रारंभिक परिवीक्षा अवधि के लिए असंतोषजनक पाया गया था। उनकी परिवीक्षा एक वर्ष बढ़ा दी गई। उनका तर्क है कि याचिकाकर्ता के साथ भेदभाव किया गया है क्योंकि उसके साथ समान व्यवहार नहीं किया गया है। दूसरी ओर, उनके मामले में, राज्य सरकार के सुझाव के बावजूद, प्रतिवादी संख्या 1 नियमों के नियम 10(1) के अनुसार परिवीक्षा की अवधि बढ़ाने के लिए सहमत नहीं हुआ। जैसा कि प्रतिवादी संख्या 1 के विद्वक अधिवक्ता ने सही बताया है, श्री केके डोडा को परिवीक्षा पर अधीनस्थ न्यायिक सेवा से सुपीरियर न्यायिक सेवा में पदोन्नत किया गया था, जबकि श्री एचएस गिल और श्री एमपी मेहंदीरत्ता को अधीनस्थ न्यायिक में परिवीक्षाधीन अधिकारी के रूप में सेवा में नियुक्त किया गया था। प्रत्येक व्यक्तिगत परिवीक्षाधीन व्यक्ति का मामला उसके अपने विशिष्ट तथ्यों पर निर्भर करता है। केवल इसलिए कि नियम परिवीक्षा अवधि को एक वर्ष तक बढ़ाने की अनुमति देता है या कि कुछ अन्य परिवीक्षाधीन न्यायिक अधिकारियों के मामले में परिवीक्षा की अवधि इतनी बढ़ा दी गई थी, तर्क की किसी भी प्रक्रिया से यह नहीं कहा जा सकता कि यह याचिकाकर्ता के खिलाफ भेदभाव का काम करता है जिसके मामले में उच्च न्यायालय ने ने परिवीक्षा की अवधि को बढ़ाना उचित नहीं समझा और वास्तव में दो साल की परिवीक्षा की प्रारंभिक अवधि पर्यवसान होने से पहले उनकी सेवाएं पर्यवसान करने की सिफारिश की। याचिकाकर्ता के साथ उपरोक्त न्यायिक अधिकारियों के गुणों और अवगुणों के संबंध में कोई भी तुलना याचिकाकर्ता के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार का मामला नहीं बना सकती है।

(50) इस फैसले से अलग होने से पहले, हम उल्लेख कर सकते हैं कि इससे पहले कि विद्वक अधिवक्ता ने मामले में दलीलें संबोधित करना शुरू किया, याचिकाकर्ता ने 1986 के सिविल विविध आवेदन संख्या 1519 को आवेदन का पैरा 3 की सूची संख्या 1 से 16 में उल्लिखित दस्तावेजों के उत्पादन के लिए प्रार्थना करते हुए स्थानांतरित कर दिया था। जैसा कि

पहले ही ऊपर देखा जा चुका है, हमने सूची संख्या 1 में उल्लिखित दस्तावेजों, यानी 21 मार्च, 1985 को आयोजित उच्च न्यायालय की बैठक के एजेंडे और मिनटों को प्रस्तुत करने की अनुमति दी थी, जिसमें याचिकाकर्ता की सेवाओं को पर्यवसान करने/मुक्त करने का निर्णय लिया गया था। हालाँकि, हमने शेष दस्तावेज़ों को प्रस्तुत करने का आदेश देना आवश्यक नहीं समझा है। प्रार्थना का वास्तव में प्रतिवादी संख्या 1 के विद्वक अधिवक्ता द्वारा विरोध किया गया था, हालांकि उन्होंने कहा था कि वह हमारे अवलोकन के लिए आवेदन में शामिल सभी दस्तावेजों को प्रस्तुत करेंगे। इस आवेदन को निस्तारित करने के लिए उन दस्तावेजों का उल्लेख करना आवश्यक है, जिन्हें प्रस्तुत करने की प्रार्थना हमने अस्वीकार कर दी है। उच्च न्यायालय का आदेश/एजेंडा और बैठक का कार्यवृत्त जिसके द्वारा याचिकाकर्ता का अभ्यावेदन दिनांक 28 मार्च, 1985 को खारिज कर दिया गया और 27 अगस्त, 1985 को आयोजित न्यायाधीशों की बैठक का आदेश/एजेंडा और कार्यवृत्त जिसके द्वारा उसका अभ्यावेदन दिनांकित था 16 अगस्त, 1985 को खारिज कर दी गई वर्तमान रिट याचिका में शामिल बिंदुओं पर निर्णय के लिए बिल्कुल भी प्रासंगिक नहीं है। यह सभी दस्तावेज़ 21 मार्च, 1985 को आयोजित न्यायाधीशों की बैठक में लिए गए निर्णय के बाद के हैं। इसी तरह, 27 जुलाई, 1985 को आयोजित बैठक का एजेंडा और कार्यवृत्त जिसमें याचिकाकर्ता "बी प्लस" के कार्य और आचरण के बारे में रिपोर्ट थी। निरीक्षण न्यायाधीश द्वारा "अच्छा" पर विचार किया गया और उसे "सी/औसत से नीचे" के रूप में वर्गीकृत किया गया; उच्च न्यायालय की बैठक का एजेंडा और कार्यवृत्त जिसमें याचिकाकर्ता की परिवीक्षा अवधि बढ़ाने के राज्य सरकार के सुझाव/प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया गया; पत्र अनुबंध पी. 26 के आगे प्रतिवादी संख्या 1 और प्रतिवादी संख्या 2 के बीच पत्राचार के साथ-साथ निरीक्षण न्यायाधीश द्वारा दर्ज की गई वर्ष 1983-84 और 1984-85 के लिए याचिकाकर्ता की वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट पर भी हमारे द्वारा विचार नहीं किया गया। इस रिट याचिका के निर्णय के लिए आवश्यक; श्री केके डोडा, श्री एमपी मेहदीरत्ता और श्री एचएस गिल की परिवीक्षा अवधि के लिए वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट; उच्च न्यायालय की बैठक का एजेंडा और कार्यवृत्त जिसमें श्री केके डोडा और श्री एमपी मेहंदीरत्ता की सेवाओं को पर्यवसान/मुक्त करने का निर्णय कथित तौर पर इस संबंध में उत्तरदाताओं संख्या 1 और 2 के बीच पत्राचार में लिया गया था; उनकी सेवाओं को पर्यवसान/मुक्त करने के निर्णय को वापस लेने वाले उच्च न्यायालय की बैठक का एजेंडा/कार्यवृत्त; श्री केके डोडा और श्री एमपी मेहंदीरत्ता की परिवीक्षा अवधि बढ़ाने का उच्च न्यायालय का आदेश और उसके बाद उनकी पुष्टि का आदेश; श्री एच को बनाए रखने के लिए उच्च न्यायालय का आदेश। परिवीक्षा की प्रारंभिक अवधि की पर्यवसानि के बाद और परिवीक्षा की अधिकतम अवधि की पर्यवसानि के बाद हरियाणा सिविल सेवा (न्यायिक) में एस गिल; और आरोपों सहित श्री एचएस गिल के खिलाफ जांच का निर्देश देने के लिए उच्च न्यायालय के आदेश और आरोपों के बयान, जिस पर उनके खिलाफ जांच का आदेश दिया गया था, का याचिकाकर्ता के मामले से दूर-दूर तक संबंध नहीं है। इन दस्तावेजों

का उत्पादन केवल जंगली शिकार और मछली पकड़ने की जांच के उद्देश्य से किया गया था, जिसे संविधान का अनुच्छेद 226 के तहत इस न्यायालय के असाधारण क्षेत्राधिकार के प्रयोग में रिट याचिका के फैसले के दौरान अनुमति नहीं दी जा सकती है। इसलिए, इन दस्तावेजों को पेश करने की प्रार्थना अस्वीकार की जाती है।

उपरोक्त चर्चा के संदर्भ में, हमारा दृढ़ मत है कि इस याचिका में कोई योग्यता नहीं है, जिसके परिणामस्वरूप लागत के बारे में कोई आदेश दिए बिना खारिज कर दिया जाता है।

(51) जैसा कि बार में प्रतिवादी संख्या 2 के विद्वक अधिवक्ता ने कहा, राज्यपाल ने नियमों के नियम 10(3) के संदर्भ में याचिकाकर्ता की सेवाओं से छूट देने की उच्च न्यायालय की सिफारिश को पहले ही स्वीकार कर लिया है। इस संबंध में औपचारिक आदेश अब प्रतिवादी संख्या 2 द्वारा बिना किसी देरी के जारी किए जाएंगे।

(52) उपरोक्त निर्णय के परिणामस्वरूप, 1985 का सीडब्ल्यूपी संख्या 3542 निष्फल हो गई है और तदनुसार निराकृत की जाती है।

अस्वीकरण: *स्थानीय भाषा में अनुवादित निर्णय वादी के सीमित उपयोग के लिए है ताकि वह अपनी भाषा में इसे समझ सके और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यवहारिक और आधिकारिक उद्देश्यों के लिए निर्णय का अंग्रेजी संस्करण प्रमाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य के लिए उपयुक्त होगा।*

रूहेला
प्रशिक्षु न्यायिक अधिकारी
(Trainee Judicial Officer)
करनाल, हरियाणा